प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 49

जैन तत्त्वमीमांसा

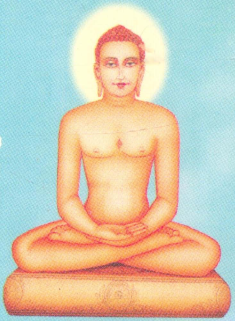

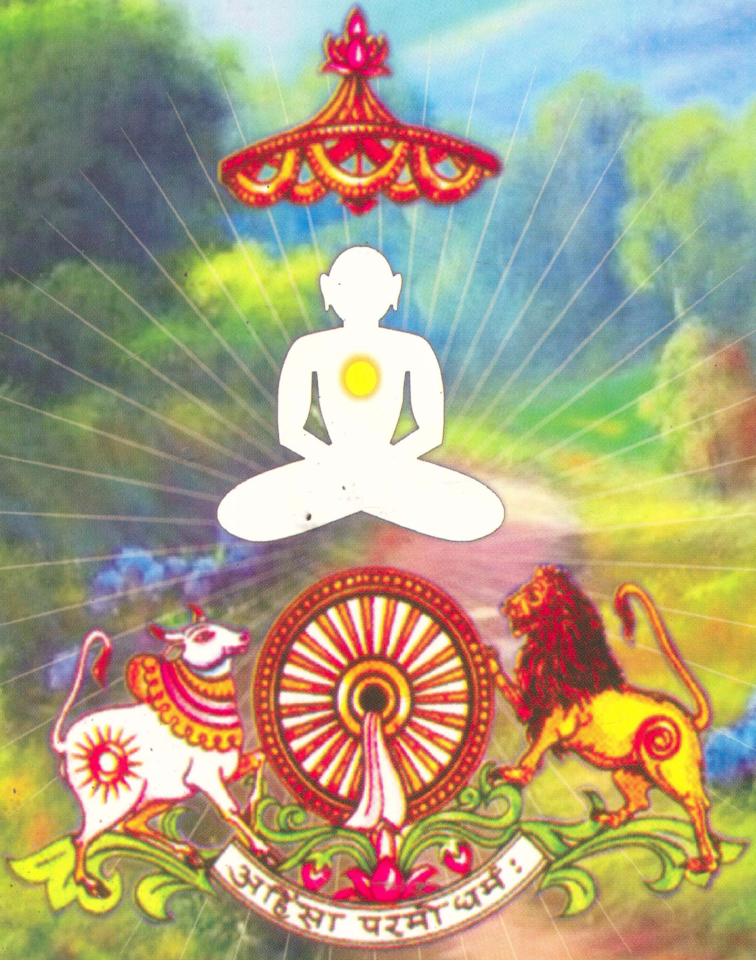

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण

प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.

प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.

प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.

प.पू. अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

ISBN-No.978-81-910801-8-6 (2)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 49

जैन तत्त्वमीमांसा

- लेखक -

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 49

जैन तत्त्वमीमांसा

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक -
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड शाजापुर (म.प्र.)
फोन न. 07364-222218
email – sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2014-15

कापीराइट - लेखक

मूल्य - रूपये 200/-

मुद्रक
आकृति ऑफसेट
5, नई पेठ, छत्री चौक के पास
उज्जैन (म.प्र.) फोनः 0734-2561720

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन विद्या के अधिकृत विद्वान हैं। उन्होंने हमारे आग्रह पर "जैन तत्त्वमीमांसा" पर अत्याधिक परिश्रम पूर्वक यह ग्रन्थ तैयार किया है। अब वे अपने जीवन के 83 वें वर्ष में चल रहे हैं, फिर भी जन सामान्य के उपयोग के लिए उनके द्वारा रचित यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की भाषा प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध है। हमें आशा है कि जैन जगत इस कृति का अध्ययन कर जैन विद्या के क्षेत्र में अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेगा।

नरेन्द्र जैन
सचिव
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

स्वकथ्य

जैन तत्त्वमीमांसा पर वैसे तो आज तक अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई है; फिर भी युगीन परिस्थितियों तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा को दृष्टि में रखकर इस कृति का प्रणयन किया गया है।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। सभी कुछ पं. दलसुखभई आदि गुरुजनों का दिया हुआ है। इसमें मैं अपनी मौलिकता का क्या करूँ? फिर इस ग्रन्थ में मैंने विभिन्न अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैनदर्शन के अन्य ग्रन्थों में प्रायः इस दृष्टि का उतनी गम्भीरता से निर्वाह नहीं हुआ है यही इस कृति की विशेषता है।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चिद् गुरुदेव मे नहि।
यद त्रासौष्ठवं किञ्चित् तन्ममैव ते नहि ॥

— सागरमल जैन

विभाग 2

जैन तत्त्वमीमांसा

किसी भी दर्शन के तीन पक्ष होते हैं– जैसे कि 1. ज्ञान–मीमांसा 2. तत्त्व–मीमांसा और 3. आचार–मीमांसा । इन तीनों में भी तत्त्व–मीमांसा प्रमुख होती है। ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा भी उसकी तत्त्वमीमांसा पर आधारित होती है। जैन–दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यह बात अलग है कि उसने अपनी तत्त्व–मीमांसा को आचारमीमांसा के योग्य बनाने का प्रयास किया है। जैन आचार्यों ने सत् के स्वरूप की व्याख्या करते हुए, उसे परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील अथवा नित्य और अनित्य– दोनों ही माना है, ताकि आचार या साधना की उपयोगिता सिद्ध हो सके।

इस पुस्तक में हमने जैन–तत्त्वमीमांसा की चर्चा की है। इसके मुख्य बिन्दु निम्न हैं– 1. सत् का स्वरूप 2. पंचअस्तिकाय की अवधारणा 3. षटद्रव्यों की अवधारणा की चर्चा की है। इसके पश्चात् द्रव्य, गुण और पर्याय का स्वरूप और उनके सह–सम्बन्ध की चर्चा भी इसमें की गई है, फिर षट्द्रव्यों का स्वरूप बताया गया है। अन्त में, नव तत्त्वों की अवधारणा का विवेचन किया है, फिर आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व की चर्चा है। इसमें हमने यह भी बताया है कि जैनदर्शन के आत्मवाद का अन्य दर्शनों के आत्मवाद से क्या वैशिष्ट्य है।

किन्तु, साधना की दृष्टि से जीव और पुद्गल का सम्बन्ध कैसे बनता है और उसे कैसे अलग किया जा सकता है, यह समझना अति आवश्यक होता है, अतः इस तत्त्वमीमांसा खण्ड के अन्त में नव या सात तत्त्वों की चर्चा ही की गई है। ज्ञातव्य है कि पुण्य–तत्त्व और पाप–तत्त्व को आश्रव तत्त्व के अन्तर्गत मानकर कुछ आचार्यों ने सात तत्त्वों की भी चर्चा की है, किन्तु हमने पुण्य और पापतत्त्व की स्वतंत्र चर्चा की है। अतः, हमने आश्रव, पुण्य, पाप, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–तत्त्वों की भी चर्चा की है। इनमें पुण्य, पाप और बंध–तत्त्व की चर्चा जैन– कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत की गई है। मोक्षमार्ग की चर्चा आगे आचारमीमांसा खण्ड में की जावेगी।

जैन–तत्त्वमीमांसा का ऐतिहासिक–विकासक्रम

जैन धर्म मूलतः आचार प्रधान है, अतः उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का विकास भी आचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसकी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यतः पंचास्तिकाय, षटद्रव्य, षट्जीवनिकाय और नव या सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख है। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणाएं अपने पूर्ण रूप में सर्वज्ञ–प्रणीत और सार्वकालिक मानी गयी हैं, किन्तु साहित्यिक–साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने इनका विकास कालक्रम में माना है। कालक्रम में निर्मित ग्रन्थों के आधार पर हमने भी इनकी विकासयात्रा को चित्रित किया है। जैनदर्शन की तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में पंचास्तिकाय की अवधारणा प्राचीनतम है, अतः सर्वप्रथम उसकी चर्चा करेंगे ।

(i) अस्तिकाय की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है। पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग एवं सूत्रकृतांग में अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित (ई.पू.चतुर्थ शती) के पार्श्व नामक अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकायों का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम–से–कम पार्श्वकालीन (ई.पू.आठवीं शती) तो है ही। महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त अस्तित्त्ववान् द्रव्य से है। ये पांच अस्तिकाय निम्न हैं– इन पंचास्तिकायों में धर्म, अधर्म और आकाश को एक–एक द्रव्य और जीव तथा पुद्गल को अनेक द्रव्य रूप माना गया है। ईसवी सन् की तीसरी शती के पश्चात् से आज तक इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता है। मात्र षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ–साथ काल को अनस्तिकाय–द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ईसवी सन् की तीसरी–चौथी शती तक, अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की

सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने के संबंध में मतभेद था। कुछ जैन–दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानकर जीव एवं पुद्गल की पर्यायरूप ही मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर– दोनों परम्पराओं में अस्तिकाय और द्रव्य की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार, पंचास्तिकाय में काल को जोड़ने पर जैनदर्शन में षट्द्रव्य की अवधारणा विकसित हुई।

अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनस्तिकाय– ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये, तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तारयुक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक–भाषा में अस्तिकाय को बहु–प्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि जो द्रव्य आकाश–क्षेत्र में विस्तारित है, वही 'अस्तिकाय' है।

पंचास्तिकाय

जैसा कि जैनदर्शन में वर्त्तमान काल में जो षट्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर लगभग ईसा की प्रथम–द्वितीय शती में षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहाँ तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है, वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्विवाद है। पं. दलसुखभाई के इस कथन में कि 'पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी है'– इतना ही सत्यांश है कि महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के रचनाकारक तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वापत्यों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को महावीर के संघ में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व

की अनेक मान्यताएँ भी महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयीं। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई। भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि यह लोक धर्म, अधर्म, आकाश, अजीव और पुद्गल–रूप है। ऋषिभाषित में तो, मात्र पाँच अस्तिकाय हैं– इतना ही निर्देश है, उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकायों के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहाँ कोई भी सूचना नहीं मिलती। धर्म, अधर्म आदि का जो अर्थ आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ है। भगवतीसूत्र में ही हमें ऐसे दो संदर्भ मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म–अस्तिकाय और अधर्म–अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अठारह पापस्थानों से विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार, प्राचीनकाल में अठारह पापस्थानों के सेवन तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों के परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था। इसी प्रकार, भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव अलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया, अपितु यह भी कहा गया कि गति की सम्भावना जीव और पुद्गल में है और अलोक में जीव और पुद्गल का अभाव होने से ऐसा संभव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता, तो पुद्गल का अभाव होने पर वह ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार का उत्तर नहीं दिया जाता, अपितु यहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया जाता। धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है– यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् ईसा की तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व संदर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल अर्थात् ई.पू. तीसरी–चौथी शती तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की ही अवधारणाएँ थीं।

(ii) षट्द्रव्य की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय–परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था, वही आगे चलकर न्यायवैशेषिकदर्शन के प्रभाव से द्रव्य के रूप में माना गया। जिन्होंने विश्व के मूलघटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना, उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया, परन्तु जिन्होंने उसे अनेक व परिवर्तनशील माना, उन्होंने सत् के स्थान पर द्रव्य शब्द का प्रयोग किया। भारतीय–चिन्तन में वेदान्त में सत् शब्द प्रयोग हुआ, जबकि दर्शन स्वतन्त्र धाराओं, यथा– न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहा, क्योंकि द्रव्य शब्द ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है, आचारांग में दवी (द्रव्य) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है, किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं, अपितु द्रवित के अर्थ में है। (जैनदर्शन का आदिकाल, पृ. 21)

'द्रव्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के 28 वें अध्ययन, जिसमें द्रव्य का विवेचन है, अपेक्षाकृत परवर्ती माना जाता है। वहाँ न केवल 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक संबंध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की यह परिभाषा न्याय–वैशेषिक–दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यपाद देवनन्दी ने पाँचवीं शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को भी द्रव्य कहा है। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है। यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने 'गुणानां समूहो दव्वो'– इस वाक्यांश को उद्धृत किया है, अतः यह अवधारणा पाँचवीं शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में 'द्रव्य गुणों का आश्रयस्थान है' और 'द्रव्य गुणों का समूह है'– ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की हैं। इस संबंध में जैनों की

अनैकान्तिकदृष्टि से की गयी प्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है, जहाँ द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार, द्रव्य की परिभाषा के संदर्भ में अनैकान्तिकदृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग ईसा की प्रथम–द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतंत्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई थी। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं ? इस प्रश्न पर, लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक, यह विवाद चलता रहा है, जिसके संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ से लेकर विशेषावश्यकभाष्य की रचना तक अनेक ग्रंथों में मिलते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णतः स्थिर हो गई, उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये षट्द्रव्य निम्न हैं– धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चलकर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय–अनस्तिकाय, चेतन–अचेतन अथवा मूर्त्त–अमूर्त्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनस्तिकाय–द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म–अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल– इन पाँच को अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय–द्रव्य माना गया। चेतन–अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल–इन पाँच को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन–द्रव्य माना गया है। मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल–इन पाँच को अमूर्त्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने यह माना है कि जैन–दर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय–वैशेषिक–दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक–दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है, अतः जहाँ

वैशेषिक–दर्शन में नौ द्रव्य माने गए थे, वहाँ जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छः द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें से भी जीव (आत्मा) आकाश और काल–ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों, जिन्हें वैशेषिक–दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि) और मरुत (वायु)– इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वतंत्र द्रव्य न मानकर अजीव–द्रव्य के ही भेद माना है। दिक् और मन– इन दो द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्‌गल– ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि– इन चारों को जड़ माना गया, वहाँ जैनों ने इन्हें चेतन माना है, यद्यपि इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है । मेरा मानना है कि ये चारों जब तक किसी जीव के काय (शरीर) रूप में हैं, तब तक वे सजीव होते हैं। इस प्रकार, जैन–दर्शन की षट्‌द्रव्य की अवधारणा अपने–आप में मौलिक है। अन्य दर्शन परम्परा से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवधारणा से किया है।

(iii) नवतत्त्व की अवधारणा

पंचास्तिकाय और षट्‌जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैन परम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि (बंधन) आदि के अस्तित्व को मानने वाली ऐकान्तिक विचारधाराओं के उल्लेख हैं (1/7/1/2000)। इस उल्लेख में आस्रव–संवर, पुण्य–पाप तथा बंधन–मुक्ति के निर्देश हैं। वैसे, आचारांगसूत्र में जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आस्रव–संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष– ऐसे नवों तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप से तो मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं–ऐसा उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृतांग में भी अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है।

उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए, उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार, जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए, वे निम्न हैं– लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का निर्देश सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है, जहाँ जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आस्रव–संवर, वेदना–निर्जरा, क्रिया–अधिकरण, बंध और मोक्ष का उल्लेख है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इनमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर ही आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी, जिसका निर्देश हमें समवायांग (9) और उत्तराध्ययन (27 / 14) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी–चौथी शताब्दी में उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात तत्त्वों की अवधारणा भी पंच–अस्तिकाय की अवधारणा से ही एक कालक्रम में विकसित होकर लगभग ईसा की तीसरी–चतुर्थ शती में अस्तित्व में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य जो मुख्य काम इन अवधारणाओं के संदर्भ में हुआ, वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद–प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा

पंचास्तिकाय के साथ–साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी जैन–ग्रंथों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न हैं– पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी आदि के लिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीर्घनिकाय में अजितकेशकम्बलिन् के मत को प्रस्तुत करते हुए– पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रंथ में

पकुधकच्चायन के मत के संदर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, सुख, दुःख और जीव– इन सात कार्यों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप् आदि के लिये काय संज्ञा अन्य श्रमण– परम्पराओं में प्रचलित थी। यद्यपि काय कौन–कौनसे और कितने हैं– इस प्रश्न को लेकर उनमें परस्पर मतभेद थे। अजितकेशकम्बलिन् पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु– इन चार महाभूतों को काय कहता था, तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दुःख और जीव– इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी, वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल– इन पाँच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई.पू. छठवीं–पांचवीं शती में अस्तित्व में थी, क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभाषित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रंथों को सभी विद्वानों ने ई.पू. पांचवीं–चौथी शती का और पालित्रिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालिक माना है। हो सकता है कि ये अवधारणाएं क्रमशः पार्श्व और महावीरकालीन हों। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलतः पार्श्व की परम्परा की रही है, जिसे लोक की व्याख्या के प्रसंग में महावीर की परम्परा में भी मान्य कर लिया गया था। लोक के स्वरूप की व्याख्या के संदर्भ में महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था– ऐसा उल्लेख भगवतीसूत्र में है, अतः इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

यहाँ हमारा विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित रूप से महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकती है, क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। यह तो निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव–जन्तु सजीव हैं, अपितु पृथ्वी, अप, तेज और वायु भी सजीव हैं, यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है। सांख्य, न्याय–वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन–धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था, जबकि जैनों में इन्हें चेत /सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ह

ऐसा है, जिसे जैन– परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई, किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं, जबकि पृथ्वी, अप, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन–परम्परा ने; पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं– इतना ही न मानकर यह भी माना कि ये स्वयं जीव हैं, अतः जैन–धर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि–आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन–आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया, तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैन–दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत् रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण संबंधी कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो– ऐसा कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की जीव संबंधी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार, जीवों की उत्पत्ति किस–किस योनि में होती है तथा जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो अपने जन्म–स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं, इसका विवरण सूत्रकृतांग आहारपरिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कंध में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा गया है। संभवतः, इसी से आगे जैनों में अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों में किस वर्ग में कौनसे जीव हैं, यह भी परवर्ती काल में ही निश्चित हुआ, फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना के काल तक, अर्थात् ई. की तीसरी शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित हो चुकी थी, क्योंकि प्रज्ञापना में इन्द्रिय, आहार और पर्याप्ति आ

द के संदर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के बाद षट्जीवनिकाय में त्रस स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना गया था, जबकि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानता है। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा तो थी ही, अतः आगे चलकर सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की परम्परा का विकास हुआ, यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टतः गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाय? प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों के साथ–साथ त्रस का उल्लेख है, वहां उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था, अतः यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं। इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठवीं शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था। पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का वर्गीकरण होता था और उसमें वायु और अग्नि में गतिशीलता मानकर उन्हें त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी, अतः सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे–धीरे गति करती हुई फैलती जाती है, अतः उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है, स्वतः नहीं, अतः उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया, किन्तु वायु और अग्नि में स्वतः

गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुनः, जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया, तो पूर्व आगमिक वचनों से संगति बैठाने का प्रश्न आया, अतः श्वेताम्बर–परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर हैं, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें त्रस कहा गया है। दिगम्बर–परम्परा में ध ावला टीका (10 वीं शती) में इसका समाधान यह कहकर किया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर– नामकर्म का उदय है। दिगम्बर–परम्परा में ही कुन्दकुद के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया है। वे लिखते हैं– पृथ्वी, अप और वनस्पति– ये तीन स्थावर– नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन–क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः, यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यताभेद आ गया था, उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहाँ तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सब वर्गीकरण ईसवी सन् की दूसरी–तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में ज़ीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे अंग–आगमों में जहाँ इन विषयों की चर्चा है, वहाँ प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रंथों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएँ ईसा की प्रथम–द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुईं। ऐसा लगता है कि प्रथम अंगबाह्य– आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वल्लभी– वाचनाओं के समय उन्हें अंग–आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को देखने के लिए तद्तद् ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया।

इस प्रकार, जैन साहित्यिक– साक्ष्यों के आधार पर माना जा सकता है कि जैन–तत्त्वमीमांसा का कालक्रम में विकास हुआ है। यद्यपि पर परागत मान्यता जैन–दर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक–ि कासक्रम को अस्वीकार करती है।

जैनदर्शन में सत् का स्वरूप

जैन आगम साहित्य में वर्णित विषय–वस्तु को मुख्य रूप से जिन चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है, वे अनुयोग कहे जाते हैं। अनुयोग चार हैं– (1) द्रव्यानुयोग, (2) गणितानुयोग, (3) चरणकरणानुयोग और (4) धर्मकथानुयोग। इन चार अनुयोगों में से जिस अनुयोग के अन्तर्गत विश्व के मूलभूत घटकों के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन किया जाता है, उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। खगोल–भूगोल सम्बन्धी गणितानुयोग के अन्तर्गत और आचार–सम्बन्धी विधि–निषेधों का विवेचन चरणकरणानुयोग के अंतर्गत होता है और धर्म एवं नैतिकता में आस्था को दृढ़ करने हेतु सदाचारी, सत्पुरुषों के जो आख्यानक (कथानक) प्रस्तुत किये जाते हैं, वे धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चार अनुयोगों में भी द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तात्त्विक या दार्शनिक–चिन्तन से है। जहाँ तक हमारे दार्शनिक–चिन्तन का प्रश्न है, आज हम उसे तीन भागों में विभाजित करते हैं– 1. तत्त्व–मीमांसा, 2. ज्ञानमीमांसा और 3. आचार–मीमांसा। इन तीनों में से तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा– दोनों ही द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी जहाँ तक तत्त्वमीमांसा का सम्बन्ध है, उसके प्रमुख कार्य जगत् के मूलभूत घटकों उपादानों या पदार्थों और उनके कार्यों की विवेचना करना है। तत्त्वमीमांसा का आरम्भ तभी हुआ होगा, जब मानव में जगत् के स्वरूप और उसके मूलभूत उपादानों या घटकों को जानने की जिज्ञासा प्रस्फुटित हुई होगी तथा उसने अपने और अपने परिवेश के संदर्भ में चिन्तन किया होगा। इसी चिन्तन के द्वारा तत्त्वमीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ' 'यह जगत् क्या है', जिससे यह निर्मित हुआ है, वे मूलभूत उपादान क्या हैं', 'यह किन नियमों से नियंत्रित एवं संचालित होता है'– इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु ही विभिन्न दर्शनों का और उनकी तत्त्व–विषयक गवेषणाओं का जन्म हुआ। जैन–परम्परा में भी उसके प्रथम एवं प्राचीनतम आगम–ग्रंथ आचारांग का प्रारम्भ भी इसी चिन्तना से होता है कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, इस शरीर का परित्याग

करने पर कहाँ जाऊँगा।' वस्तुतः, ये ही ऐसे प्रश्न हैं, जिनसे दार्शनिक–चिन्तन का विकास होता है और तत्त्वमीमांसा का आविर्भाव होता है।

तत्त्वमीमांसा वस्तुतः विश्व–व्याख्या का एक प्रयास है। इसमें जगत् के मूलभूत उपादानों तथा उनके कार्यों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। विश्व के मूलभूत घटक, जो अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं हैं तथा जो कभी भी अपने स्व–स्वरूप का परित्याग नहीं करते हैं, वे सत् या द्रव्य कहलाते हैं। विश्व के तात्त्विक–आधार या मूलभूत उपादान ही सत् या द्रव्य कहे जाते हैं और जो इन द्रव्यों का विवेचन करता है, वही द्रव्यानुयोग है।

विश्व के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण यह है कि यह विश्व अकृत्रिम है ('लोगो अकिट्टिमो खलु'–मूलाचार, गाथा–7/2)। इस लोक का कोई निर्माता या सृष्टिकर्त्ता नहीं है। अर्द्ध–मागधी आगम–साहित्य में भी लोक को शाश्वत बताया गया है। उसमें कहा गया है कि यह लोक अनादिकाल से है और रहेगा। ऋषिभाषित के अनुसार, लोक की शाश्वतता के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। आगे चलकर भवगतीसूत्र में महावीर ने भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन किया। जैन–दर्शन लोक का कोई रचयिता एवं नियामक नहीं है, वह स्वाभाविक है और अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु जैनागमों में लोक के शाश्वत कहने का तात्पर्य कथमपि यह नहीं है कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। विश्व के सन्दर्भ में जैन–चिन्तक जिस नित्यता को स्वीकार करते हैं, वह नित्यता कूटस्थ–नित्यता नहीं, परिणामी–नित्यता है, अर्थात् वे विश्व को परिवर्तनशील मानकर भी मात्र प्रवाह या प्रक्रिया की अपेक्षा से नित्य या शाश्वत कहते हैं।

भगवतीसूत्र में लोक के स्वरूप की चर्चा करते हुए लोक को पंचास्तिकायरूप कहा गया है। जैनदर्शन में इस विश्व के मूलभूत उपादान पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं– 1. जीव (चेतन तत्त्व), 2. पुद्गल (भौतिक तत्त्व), 3. धर्म (गति का नियामक तत्त्व), 4. अधर्म (स्थिति–नियामक तत्त्व) और 5. आकाश (स्थान या अवकाश देने वाला तत्त्व)।

ज्ञातव्य है कि यहाँ काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। यद्यपि

परवर्ती जैन विचारकों ने काल को भी विश्व के परिवर्तन के मौलिक कारण के रूप में या विश्व में होने वाले परिवर्तनों के नियामक तत्त्व के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य माना है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे पंचास्तिकायों और षट्द्रव्यों के प्रसंग में की जायेगी। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य तो यह है कि जैन–दार्शनिक विश्व के मूलभूत उपादानों के रूप में पंचास्तिकायों एवं षट्द्रव्यों की चर्चा करते हैं। विश्व के इन मूलभूत उपादानों को द्रव्य अथवा सत् के रूप में विवेचित किया जाता है। द्रव्य अथवा सत् वह है, जो अपने आप में परिपूर्ण, स्वतन्त्र और विश्व का मौलिक घटक है। जैन–परम्परा में सामान्यतया सत्, तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, पर–अपर ध्येय, शुद्ध और परम–इन सभी को एकार्थक या पर्यायवाची माना गया है। बृहद्नयचक्र में कहा गया है–

ततं तह परमट्ठं दव्वसहायं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।।

–बृहद्नयचक्र, 411

जैनागमों में विश्व के मूलभूत घटक के लिए अस्तिकाय, तत्त्व और द्रव्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययनसूत्र में हमें तत्त्व और द्रव्य के, स्थानांग में अस्तिकाय के उल्लेख मिलते हैं। कुंदकुंद ने अर्थ, पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और अस्तिकाय–इन सभी शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि आगमयुग में तो विश्व के मूलभूत घटकों के लिए अस्तिकाय, तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्दों का प्रयोग होता था। 'सत्' शब्द का प्रयोग आगम–युग में नहीं हुआ। उमास्वाति ने द्रव्य के लक्षण के रूप में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे, अस्तिकाय शब्द प्राचीन और जैनदर्शन का अपना विशिष्ट पारिभाषिक–शब्द है। यह अपने अर्थ की दृष्टि से सत् के निकट है, क्योंकि दोनों ही अस्तित्व लक्षण के ही सूचक हैं। तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्द के प्रयोग सांख्य और न्याय–वैशेषिक–दर्शनों में भी मिलते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र (5/29) में उमास्वाति ने भी द्रव्य और सत्–दोनों को अभिन्न बताया है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सत्, परमार्थ, परमतत्त्व और द्रव्य सामान्य दृष्टि से पर्यायवाची होते हुए भी विशेष दृष्टि

एवं अपने व्युत्पत्तिलभ्य– अर्थ की दृष्टि से भिन्न–भिन्न हैं। वेद, उपनिषद् और उनसे विकसित वेदान्त दर्शन की विभिन्न दार्शनिक–धाराओं में सत् शब्द प्रमुख रहा है। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि 'एक सद् वित्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत् (परम तत्त्व) एक ही है– विप्र (विद्वान्) उसे अनेक रूप से कहते हैं, किन्तु दूसरी ओर, स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित दर्शन–परम्पराओं, विशेष रूप से वैशेषिक–दर्शन में द्रव्य शब्द प्रमुख रहा है। ज्ञातव्य है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द अस्तित्व का अथवा प्रकारान्तर से नित्यता या अपरिवर्तनशीलता का एवं द्रव्य शब्द परिवर्तनशीलता का सूचक है। सांख्यों एवं नैयायिकों ने इसके लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायसूत्र के भाष्यकार ने प्रमाण आदि 16 तत्त्वों के लिए सत् शब्द का प्रयोग भी किया है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक–दर्शन में क्रमशः तत्त्व और द्रव्य शब्द ही अधिक प्रचलित रहे हैं। सांख्यदर्शन भी प्रकृति और पुरुष– इन दोनों को तथा इनसे उत्पन्न बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों को तत्त्व ही कहता है। इस प्रकार, स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित इन दर्शन परम्पराओं में तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इनमें अपने तात्पर्य को लेकर भिन्नता भी मानी गयी है। तत्त्व शब्द सबसे अधिक व्यापक है, उसमें पदार्थ और द्रव्य भी समाहित हैं। न्यायदर्शन में जिन तत्त्वों को माना गया है, उनमें द्रव्य का उल्लेख प्रमेय के अन्तर्गत हुआ है। वैशेषिकसूत्र में द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय– ये षट् पदार्थ और प्रकारान्तर से अभाव को मिलाकर सात पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें भी द्रव्य, गुण और कर्म– इन तीन का ही अर्थ संज्ञा है, अतः सिद्ध होता है कि अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तत्त्व की अपेक्षा पदार्थ और पदार्थ की अपेक्षा द्रव्य अधिक संकुचित है। तत्त्वों में पदार्थ का और पदार्थों में द्रव्य का समावेश होता है। सत् शब्द को इससे भी अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वस्तुतः, जो भी अस्तित्ववान् है, वह सत् के अन्तर्गत आ जाता है, अतः सत् शब्द, तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों की अपेक्षा भी अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है।

उपर्युक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जो दर्शनधाराएं अभेदवाद की ओर अग्रसर हुईं, उनमें 'सत्' शब्द की प्रमुखता रही, जबकि जो धाराएं भेदवाद की ओर अग्रसर हुईं, उनमें 'द्रव्य' शब्द की प्रमुखता रही।

जहाँ तक जैन–दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने सत् और द्रव्य में एक अभिन्नता सूचित की है। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने 'सत् द्रव्य लक्षण' कहकर दोनों में अभेद स्थापित किया है, फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ 'सत्' शब्द एक सामान्य सत्ता का सूचक है, वहाँ 'द्रव्य' शब्द विशेष सत्ता का सूचक है। जैन–आगमों के टीकाकार अभयदेवसूरि ने और उनके पूर्व तत्त्वार्थभाष्य (1/35) में उमास्वाति ने 'सर्वं एकं सद् विशेषात्' कहकर सत् शब्द से सभी द्रव्यों के सामान्य लक्षण अस्तित्व को सूचित किया है। अतः, यह स्पष्ट है कि सत् शब्द अभेद या सामान्य का सूचक है और द्रव्य शब्द विशेष का। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन–दार्शनिकों की दृष्टि में सत् और द्रव्य शब्द में तादात्म्य–सम्बन्ध है, सत्ता की अपेक्षा वे अभिन्न हैं; उन्हें एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सत् अर्थात् अस्तित्व के बिना द्रव्य भी नहीं हो सकता। दूसरी ओर, द्रव्य (सत्ता–विशेष) के बिना सत् की कोई सत्ता ही नहीं होगी। अस्तित्व (सत्) के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना अस्तित्व नहीं हो सकते। यही कारण है कि उमास्वाति न सत् को द्रव्य का लक्षण कहा था। स्पष्ट है कि लक्षण और लक्षित भिन्न–भिन्न नहीं होते हैं।

वस्तुतः, सत् और द्रव्य–दोनों में उनके व्युत्पत्तिपरक अर्थ की अपेक्षा से ही भेद है, अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से भेद नहीं है। हम उनमें केवल विचार की अपेक्षा से भेद कर सकते हैं, सत्ता की अपेक्षा से नहीं। सत् और द्रव्य अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी वैचारिक स्तर पर हमें यह मानना होगा कि सत् ही एक ऐसा लक्षण है, जो विभिन्न द्रव्यों में अभेद की स्थापना करता है, किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सत् द्रव्य का एकमात्र लक्षण नहीं है। द्रव्य में अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी हैं, जो एक द्रव्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। अस्तित्व लक्षण की अपेक्षा से सभी द्रव्य एक हैं, किन्तु अन्य लक्षणों की अपेक्षा से वे एक–दूसरे से

पृथक् भी हैं, जैसे– चेतना लक्षण जीव और अजीव में भेद करता है। सत्ता में सत् लक्षण की अपेक्षा से अभेद और अन्य लक्षणों से भेद मानना– यही जैनदर्शन की अनैकान्तिक–दृष्टि की विशेषता है।

अर्द्ध–मागधी आगम स्थानांग और समवायांग में जहाँ अभेद–दृष्टि के आधार पर जीव द्रव्य को एक कहा गया है, वहीं उत्तराध्ययन में भेद–दृष्टि से जीव द्रव्य में भेद किये गये हैं।

जहाँ तक जैन–दार्शनिकों का प्रश्न है, वे सत् और द्रव्य– दोनों ही शब्दों को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उनको एक–दूसरे से समन्वित भी करते हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे, उसके बाद द्रव्यों की चर्चा करेंगे तथा अन्त में तत्त्वों के स्वरूप पर विचार करेंगे।

सत् का स्वरूप

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, जैन–दार्शनिकों ने सत्, तत्त्व और द्रव्य– इन तीनों को पर्यायवाची माना है, किन्तु इनके शाब्दिक–अर्थ की दृष्टि से इन तीनों में अन्तर है। सत् वह सामान्य लक्षण है, जो सभी द्रव्यों और तत्त्वों में पाया जाता है एवं द्रव्यों के भेद में भी अभेद को प्रधानता देता है। जहाँ तक तत्त्व का प्रश्न है, वह भेद और अभेद–दोनों को अथवा सामान्य और विशेष–दोनों को स्वीकार करता है। सत् में कोई भेद नहीं किया जाता, जबकि तत्त्व में भेद किया जाता है। जैन–आचार्यों ने तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग पर न केवल जड़ और चेतन द्रव्यों अर्थात् जीव और अजीव की चर्चा की है, अपितु आस्रव, संवर आदि उनके पारस्परिक–सम्बन्धों की भी चर्चा की है। तत्त्व की दृष्टि से न केवल जीव और अजीव में भेद माना गया, अपितु जीवों में भी परस्पर भेद माना गया, वहीं दूसरी ओर, आस्रव, बन्ध आदि के प्रसंग में उनके तादात्म्य या अभेद को भी स्वीकार किया गया, किन्तु जहाँ तक 'द्रव्य' शब्द का प्रश्न है, वह सामान्य होते हुए भी द्रव्यों की लक्षणगत विशेषताओं के आधार पर उनमें भेद करता है। 'सत्' शब्द सामान्यात्मक है, तत्त्व शब्द सामान्य–विशेष उभयात्मक है और द्रव्य विशेषात्मक है। पुनः, सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष का, द्रव्य शब्द परिवर्तनशील पक्ष का और तत्त्व शब्द उभय–पक्ष का सूचक है। जैनों की नयों की पारिभाषिक शब्दावली में कहें,

तो सत् शब्द संग्रहनय का, तत्त्व नैगमनय का और द्रव्य शब्द व्यवहारनय का सूचक है। सत् अभेदात्मक है, तत्त्व भेदाभेदात्मक है और द्रव्य शब्द भेदात्मक है। चूँकि जैनदर्शन भेद, भेदाभेद और अभेद–तीनों को स्वीकार करता है, अतः उसने अपने चिन्तन में इन तीनों को ही स्थान दिया है। इन तीनों शब्दों में हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यद्यपि अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील, सामान्य एवं अभेदात्मक–पक्ष का सूचक है, फिर भी सत् के स्वरूप को लेकर भारतीय– दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे अपरिवर्तनशील मानता है, तो कोई उसे परिवर्तनशील, कोई उसे एक कहता है, तो कोई अनेक, कोई उसे चेतन मानता है, तो कोई उसे जड़। वस्तुतः, सत्, परम तत्त्व या परमार्थ के स्वरूप सम्बन्धी इन विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल में प्रमुख रूप से तीन प्रश्न रहे हैं। प्रथम प्रश्न उसके एकत्व अथवा अनेकत्व का है। दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध उसके परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील होने से है। तीसरे प्रश्न का विवेच्य उसके चित् या अचित् होने से है। ज्ञातव्य है कि अधिकांश भारतीय–दर्शनों ने चित्त–अचित्त, जड़–चेतन या जीव–अजीव– दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया है, अतः यह प्रश्न अधिक चर्चित नहीं बना, फिर भी इन सब प्रश्नों के दिये गये उत्तरों के परिणामस्वरूप भारतीय–चिन्तन में सत् के स्वरूप में विविधता आ गयी।

सत् के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील पक्ष की समीक्षा

सत् के परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील स्वरूप के सम्बन्ध में दो अतिवादी अवधारणाएँ हैं। एक धारणा यह है कि सत् निर्विकार एवं अव्यय है। त्रिकाल में उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इन विचारकों का कहना है कि जो परिवर्तित होता है, वह सत् नहीं हो सकता। परिवर्तन का अर्थ ही है कि पूर्व अवस्था की समाप्ति और नवीन अवस्था का ग्रहण। इन दार्शनिकों का कहना है कि जिसमें उत्पाद एवं व्यय की प्रक्रिया हो, उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जो अवस्थान्तर को प्राप्त हो, उसे सत् कैसे कहा जाय? इस सिद्धान्त के विरोध में जो सिद्धान्त अस्तित्व में आया, वह सत् की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त है। इन विचारकों के अनुसार, परिवर्तनशीलता या अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य ही सत् का लक्षण है।

जो गतिशील नहीं है, दूसरे शब्दों में, जो अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति से हीन है, उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक भारतीय–दार्शनिक–चिंतन का प्रश्न है, कुछ औपनिषदिक–चिन्तक और शंकर का अद्वैत–वेदान्त सत् के अपरिवर्तनशील होने के प्रथम सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार सत् निर्विकार और अव्यय है। वह उत्पाद और व्यय–दोनों से रहित है। इसके विपरीत, दूसरा सिद्धान्त बौद्ध–दार्शनिकों का है। वे सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से पृथक् कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती। जहाँ तक भारतीय–चिन्तकों में सांख्य–दार्शनिकों का प्रश्न है, उनकी दृष्टि में प्रकृति कूटस्थनित्य नहीं है, वह परिवर्तनशील तत्त्व है। इस प्रकार, सांख्य–दार्शनिक अपने द्वारा स्वीकृत दो तत्त्वों में से एक को परिवर्तनशील और दूसरे को अपरिवर्तनशील मानते हैं।

वस्तुतः, सत् को निर्विकार और अव्यय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसके अनुसार जगत् को मिथ्या या असत् ही मानना होता है, क्योंकि हमारी अनुभूति का जगत् तो परिवर्तनशील है। इसमें कुछ भी ऐसा प्रतीत नहीं होता, जो परिवर्तन से रहित हो। न केवल व्यक्ति और समाज, अपितु भौतिक पदार्थ भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सत् को निर्विकार और अव्यय मानने का अर्थ है– जगत् की अनुभूतिगत विविधता को नकारना और कोई भी विचारक अनुभवात्मक– परिवर्तनशीलता को नकार नहीं सकता। चाहे आचार्य शंकर कितने ही जोर से इस बात को रखें कि निर्विकार ब्रह्म ही सत्य है और परिवर्तनशील जगत् मिथ्या है, किन्तु आनुभविक–स्तर पर कोई भी विचारक इसे स्वीकार नहीं कर सकेगा। अनुभूति के स्तर पर जो परिवर्तनशीलता की अनुभूति है, उसे कभी भी नकारा नहीं जा सकता। यदि सत् त्रिकाल में अविकारी और अपरिवर्तनशील हो, तो फिर वैयक्तिक जीवों या आत्माओं के बंधन और मुक्ति की व्याख्या भी अर्थहीन हो जायेगी। धर्म और नैतिकता– दोनों का ही उन दर्शनों में कोई स्थान नहीं होगा, जो सत् को अपरिणामी मानते हैं। जैसे जीवन में बाल्यावस्था, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था आती है, उसी प्रकार सत्ता में भी परिवर्तन घटित होते हैं। आज का हमारे अनुभव का विश्व वही नहीं है,

जो हजार वर्ष पूर्व था, उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन घटित होते हैं। न केवल जगत् में, अपितु हमारे वैयक्तिक–जीवन में भी परिवर्तन घटित होते रहते हैं, अतः अस्तित्व या सत्ता के सम्बन्ध में अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा समीचीन नहीं है।

इसके विपरीत, यदि सत् को क्षणिक या परिवर्तनशील माना जाता है, तो भी कर्मफल या नैतिक–उत्तरदायित्व की व्याख्या संभव नहीं होती। यदि प्रत्येक क्षण स्वतन्त्र है, तो फिर हम नैतिक–उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति अथवा वस्तु अपने पूर्व क्षण की अपेक्षा उत्तर क्षण में पूर्णतः बदल जाती है, तो फिर हम किसी को पूर्व में किए गये चोरी आदि कार्यों के लिए कैसे उत्तरदायी बना पाएंगे?

सैद्धान्तिक–दृष्टि से जैन–दार्शनिकों का इस धारणा के विपरीत यह कहना है कि उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है, दूसरे शब्दों में, पूर्व–पर्याय के नाश के बिना उत्तर–पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं है, किन्तु उत्पत्ति और नाश–दोनों का आश्रय कोई वस्तुतत्त्व होना चाहिये। एकान्तनित्य वस्तुतत्त्व/पदार्थ में परिवर्तन संभव नहीं है और यदि पदार्थों को एकान्त–क्षणिक माना जाय, तो परिवर्तित कौन होता है– यह नहीं बताया जा सकता। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इस दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए कहते हैं कि "एकान्त क्षणिकवाद में प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म असंभव होगा और प्रेत्यभाव के अभाव में पुण्य–पाप के प्रतिफल और बंधन–मुक्ति की अवधारणाएं भी संभव नहीं होंगी। पुनः, एकान्त–क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञा भी संभव नहीं और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में कार्यारम्भ ही नहीं होगा, फिर फल कहाँ से? इस प्रकार इसमें बंधन–मुक्ति, पुनर्जन्म का कोई स्थान नहीं है। 'युक्त्यानुशासन' में कहा गया है कि क्षणिकवाद संवृत्ति–सत्य के रूप में भी बन्धन–मुक्ति आदि की स्थापना नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि में परमार्थ या सत् निःस्वभाव है। यदि परमार्थ निज स्वभाव है, तो फिर व्यवहार का विधान कैसे होगा? आचार्य हेमचन्द्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' में क्षणिकवाद पर पाँच आक्षेप लगाये हैं– 1. कृत–प्रणाश, 2. अकृत–भोग, 3. भव–भंग, 4. प्रमोक्ष–भंग और 5. स्मृति–भंग। यदि कोई नित्य सत्ता ही नहीं है और

प्रत्येक सत्ता क्षणजीवी है, तो फिर व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों का फलभोग कैसे सम्भव होगा, क्योंकि फलभोग के लिए कर्तृत्वकाल और भोक्तृत्वकाल में उसी व्यक्ति का होना आवश्यक है, अन्यथा कार्य कौन करेगा और फल कौन भोगेगा? वस्तुतः, एकान्त–क्षणिकवाद में अध्ययन कोई और करेगा, परीक्षा कोई और देगा, उसका प्रमाण–पत्र किसी और को मिलेगा, उस प्रमाण–पत्र के आधार पर नौकरी कोई अन्य व्यक्ति प्राप्त करेगा और जो वेतन मिलेगा, वह किसी अन्य को। इसी प्रकार, ऋण कोई अन्य व्यक्ति लेगा और उसका भुगतान किसी अन्य व्यक्ति को करना होगा।

यह सत्य है कि बौद्धदर्शन में सत् के अनित्य एवं क्षणिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। यह भी सत्य है कि भगवान् बुद्ध सत् को एक प्रक्रिया (परिवर्तनशीलता) मानते हैं, उस प्रक्रिया से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। वे कहते हैं– क्रिया है, किन्तु क्रिया से पृथक् कोई कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार, प्रक्रिया से अलग कोई सत्ता नहीं है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्धदर्शन के इन मन्तव्यों का आशय एकान्त–क्षणिकवाद या उच्छेदवाद नहीं है। आलोचकों ने उसे उच्छेदवाद समझकर, जो आलोचना प्रस्तुत की है, चाहे वह उच्छेदवाद के संदर्भ में संगत हो, किन्तु बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में नितान्त असंगत है। बुद्ध सत् के परिवर्तनशील पक्ष पर बल देते हैं, किन्तु इस आधार पर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता। बुद्ध के इस कथन कि "क्रिया है, कर्त्ता नहीं" का आशय यह नहीं है कि वे कर्त्ता या क्रियाशील तत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्त्ता नहीं है। परिवर्तन से भी भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में, वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः, बौद्धदर्शन का सत्–सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैनदर्शन से उतना दूर नहीं है, जितना माना गया है। बौद्ध–दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है, अर्थात् वे न उसे एकान्त–अनित्य मानते हैं और न एकान्त–नित्य, वह न अनित्य है और न नित्य है, जबकि जैन–दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा–शैली का अन्तर है। बुद्ध और

महावीर के कथन का मूल उत्स एक–दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। भगवान् बुद्ध का सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ मन्तव्य क्या था, इसकी विस्तृत चर्चा हमने 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार–दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' भाग–1 (पृ. 192–194) में की है, इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत विवेचना का मूल उद्देश्य मात्र इतना है कि सत् के सम्बन्ध में एकान्त–अभेदवाद और एकान्त–भेदवाद उन्हें मान्य नहीं रहे हैं।

जैन–दार्शनिकों के अनुसार, सत्ता सामान्य–विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। वह एक भी है और अनेक भी। वे भेद में अभेद और अभेद में भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे अनेकता में एकता का और एकता में अनेकता का दर्शन करते हैं। मानवता की अपेक्षा मनुष्यजाति एक है, किन्तु देश–भेद, वर्णभेद, वर्ग–भेद या व्यक्ति–भेद की अपेक्षा वह अनेक है। जैन दार्शनिकों के अनुसार, एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त–परिवर्तनशीलता का या भेदवादी दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का या अभेदवादी (अद्वैतवादी) दृष्टिकोण–इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार–जगत् की व्याख्या सम्भव है, न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान होगा। यही कारण था कि आचारमार्गीय–परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त–शाश्वतवाद का और न एकान्त–उच्छेदवाद का परित्याग किया, अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्वयवादी परम्परागत दृष्टि से यह माना है कि सत् या सत्ता परिणाम– नित्य है। वह परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। भगवान् महावीर ने 'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'– इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन–दार्शनिक–वाङ्.मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का उपर्युक्त कथन ही जैनदर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है।

इस सिद्धान्त के अनुसार; उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य– ये तीनों ही सत्

के लक्षण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, 5/29), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं, तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य– गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश– दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की भी आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति के लिए विनाश की ये प्रक्रियाएं घटित होती हों। यदि हम ध्रौव्य–पक्ष को अस्वीकार करेंगे, तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक– उत्तरदायित्व और कर्मफल–व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार, एकान्त–ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकेगा। जैनदर्शन में सत् के इस अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है, इसलिए तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य को गुण एवं पर्याय से युक्त कहा गया है। चूंकि द्रव्य की इस अवधारणा का विकास भी पंचास्तिकाय की अवधारणा से हुआ है, अतः यहाँ हम पंचास्तिकाय की अवधारणा की चर्चा करेंगे।

पंचास्तिकाय एवं षट्द्रव्यों की अवधारणा

जैनदर्शन में 'द्रव्य' के वर्गीकरण का एक आधार अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा भी है। षट्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव– ये पाँच अस्तिकाय माने गये हैं, जबकि काल को अनस्तिकाय माना गया है। अधिकांश जैन–दार्शनिकों के अनुसार काल का अस्तित्व तो है, किन्तु उसमें कायत्व नहीं है, अतः उसे अस्तिकाय के वर्ग में नहीं रखा जा सकता है। कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने तो काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई है, किन्तु यह एक भिन्न विषय है, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अस्तिकाय का तात्पर्य

सर्वप्रथम तो हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि अस्तिकाय की इस अवधारणा का तात्पर्य क्या है? व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अस्तिकाय' दो शब्दों के मेल से बना है– अस्ति+काय। 'अस्ति' का अर्थ है– सत्ता या अस्तित्व और 'काय' का अर्थ है– शरीर, अर्थात् जो शरीर–रूप से अस्तित्ववान् है, वह अस्तिकाय है, किन्तु यहाँ 'काय' (शरीर) शब्द भौतिक शरीर के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, जैसा कि जन–साधारण समझता है, क्योंकि पंच–अस्तिकायों में पुद्गल को छोड़कर शेष चार तो अमूर्त्त हैं, अतः वे अस्तिकाय हैं। परमाणु आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं, किन्तु परमाणु जुड़कर स्कन्ध बनाते हैं। परमाणु और स्कन्ध पुद्गल के ही रूप हैं, फिर भी उनका आकाश में विस्तार है, अतः पुद्गल को भी अस्तिकाय माना जा सकता है।

वस्तुतः, इस प्रसंग में कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना ही है। जो द्रव्य विस्तारवान् हैं, वे अस्तिकाय हैं और जो विस्ताररहित हैं, वे अनस्तिकाय हैं। विस्तार की यह अवधारणा क्षेत्र की अवधारणा पर आश्रित है। वस्तुतः, कायत्व के अर्थ के स्पष्टीकरण में सावयवत्व एवं सप्रदेशत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी क्षेत्र के अवगाहन की संकल्पना से सम्बन्धित हैं। विस्तार का तात्पर्य है– क्षेत्र का अवगाहन। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, वही उसका विस्तार या प्रदेश–प्रचयत्व या कायत्व है। विस्तार या प्रचय दो प्रकार का माना गया है– ऊर्ध्व–प्रचय और तिर्यक्–प्रचय। आधुनिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः' ऊर्ध्व–एकरेखीय विस्तार (Longitudinal Extension) और बहुआयामी विस्तार (Multi-dimensional Extension) कहा जा सकता है। अस्तिकाय की अवधारणा में प्रचय या विस्तार को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वह बहुआयामी विस्तार है, न कि ऊर्ध्व–एकरेखीय विस्तार। जैन–दार्शनिकों ने केवल उन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक्–प्रचय या बहुआयामी विस्तार है। काल में केवल ऊर्ध्व–प्रचय या एक–आयामी विस्तार है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है। यद्यपि प्रो. जी.आर. जैन ने काल को

एक–आयामी (Mono-dimensional) और शेष को द्वि–आयामी (Two-dimensional) माना है, किन्तु मेरी दृष्टि में शेष द्रव्य त्रि–आयामी हैं, (Three-dimensional) क्योंकि वे स्कन्धरूप हैं, अतः, उनमें लम्बाई–चौड़ाई और मोटाई के रूप में तीन आयाम होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जिन द्रव्यों में त्रि–आयामी विस्तार है, वे अस्तिकाय द्रव्य हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि काल भी लोकव्यापी है, फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया? इसका प्रत्युत्तर यह है कि यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित हैं, किन्तु प्रत्येक कालाणु (Time grains) अपने आप में एक स्वतंत्र द्रव्य है, वे परस्पर निरपेक्ष हैं, स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के अभाव के कारण उनमें बंध नहीं होता है, अर्थात् उनके स्कन्ध नहीं बनते हैं। स्कन्ध के अभाव में उनमें प्रदेश–प्रचयत्व की कल्पना संभव नहीं है, अतः वे अस्तिकाय द्रव्य नहीं हैं। काल–द्रव्य को अस्तिकाय इसलिये नहीं कहा गया, क्योंकि उसमें स्वरूपतः और उपचार– दोनों ही प्रकार से प्रदेश–प्रचयत्व की कल्पना का अभाव है।

यद्यपि पाश्चात्य–दार्शनिक देकार्त ने पुद्गल (Matter) का गुण विस्तार (Extension) माना है, किन्तु जैनदर्शन की विशेषता तो यह है कि वह आत्मा, धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त्त–द्रव्यों में भी विस्तार की अवधारणा को स्वीकार करता है। इनके विस्तारवान् (कायत्व से युक्त) होने का अर्थ है, वे दिक् (pace) में प्रसारित या व्याप्त हैं। धर्म एवं अधर्म तो एक महास्कन्ध के रूप में सम्पूर्ण लोकाकाश के सीमित असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में प्रसारित या व्याप्त हैं। आकाश तो स्वतः ही अनन्त प्रदेश वाला होकर लोक एवं अलोक में विस्तारित है, अतः इसमें भी कायत्व की अवधारणा सम्भव है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, देकार्त उसमें 'विस्तार' को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जैन–दर्शन उसे विस्तारयुक्त मानता है, क्योंकि आत्मा जिस शरीर को अपना आवास बनाता है, उसमें वह समग्रतः व्याप्त हो जाता है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर के अमुक भाग में आत्मा है और अमुक भाग में नहीं है, वह अपने 'चेतना' लक्षण से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता है, अतः उसमें विस्तार है, वह अस्तिकाय है। हमें इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिए कि केवल मूर्त्त–द्रव्य का विस्तार होता

है और अमूर्त्त का नहीं। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमूर्त्त–द्रव्य का भी विस्तार होता है। वस्तुतः, अमूर्त्त–द्रव्य के विस्तार की कल्पना उसके लक्षणों या कार्यों (Functions) के आधार पर की जा सकती है, जैसे धर्म–द्रव्य का कार्य गति को सम्भव बनाना है, वह गति का माध्यम माना गया है, अतः जहाँ–जहाँ गति है या गति सम्भव है, वहाँ–वहाँ धर्म–द्रव्य की उपस्थिति एवं विस्तार है, यह माना जा सकता है।

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी द्रव्य को अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य दिक् में प्रसारित है, या प्रसारण की क्षमता से युक्त है। विस्तार या प्रसार (ग्ग्गजमदेपवद) ही कायत्व है, क्योंकि विस्तार या प्रसार की उपस्थिति में ही प्रदेश प्रचयत्व तथा सावयवता की सिद्धि होती है, अतः जिन द्रव्यों में अस्तित्व के साथ–साथ विस्तार या प्रसार का लक्षण है, वे अस्तिकाय हैं। अब एक प्रश्न यह शेष रहता है कि काल को अस्तिकाय क्यों नहीं माना जा सकता? यद्यपि अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक काल के विस्तार का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसमें कायत्व का आरोपण संभव नहीं है, क्योंकि काल का प्रत्येक घटक अपनी स्वतंत्र और पृथक् सत्ता रखता है। जैनदर्शन की पारम्परिक–परिभाषा में कालाणुओं में स्निग्ध एवं रूक्ष–गुण का अभाव होने से उनका कोई स्कन्ध या संघात नहीं बन सकता है। यदि उनके स्कन्ध की परिकल्पना भी कर ली जाय, तो पर्याय–समय की सिद्धि नहीं होती है। पुनः, काल के वर्तना लक्षण की सिद्धि केवल वर्त्तमान में ही है और वर्त्तमान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः काल में विस्तार (प्रदेश–प्रचयत्व) नहीं माना जा सकता और इसलिए वह अस्तिकाय भी नहीं है। प्रारंभ से ही ये अस्तिकाय पाँच माने गये हैं– 1. धर्म, 2. अधर्म, 3 जीव, 4. पुद्गल और 5. आकाश। इन पांचों की विस्तृत चर्चा षट्द्रव्यों के प्रसंग में की गई है ।

अस्तिकायों के प्रदेश–प्रचयत्व का अल्पबहुत्व

ज्ञातव्य है कि सभी अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार–क्षेत्र समान नहीं है, उनमें भिन्नताएँ हैं। जहाँ आकाश का विस्तार–क्षेत्र लोक और अलोक–दोनों हैं, वहाँ धर्म–द्रव्य और अधर्म–द्रव्य केवल लोक तक ही सीमित हैं।

पुद्गल के प्रत्येक स्कन्ध और प्रत्येक जीव का विस्तार–क्षेत्र भी भिन्न–भिन्न है। पुद्गल–पिण्डों का विस्तार–क्षेत्र उनके आकार पर निर्भर करता है। प्रत्येक जीवात्मा का विस्तार–क्षेत्र उसके द्वारा गृहीत शरीर के आकार पर निर्भर करता है। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय होते हुए भी उनका विस्तार–क्षेत्र या कायत्व समान नहीं है। जैन–दार्शनिकों ने उनमें प्रदेश–दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट की है। भगवतीसूत्र में बताया गया है कि धर्म–द्रव्य और अधर्म के प्रदेश अन्य द्रव्यों की अपेक्षा सबसे कम हैं। वे लोकाकाश तक (Within the limits of universe) सीमित हैं और असंख्य–प्रदेशी हैं। आकाश की प्रदेश–संख्या इन दोनों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक मानी गयी है। आकाश अनन्त–प्रदेशी है, क्योंकि वह ससीम लोक (Finite universe) तक सीमित नहीं है। उसका विस्तार अलोक में भी है। पुनः, आकाश की अपेक्षा जीवद्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रथम तो जहाँ धर्म–अधर्म और आकाश का एकल–द्रव्य है, वहाँ जीव अनन्त–द्रव्य है, क्योंकि संख्या की अपेक्षा जीव अनन्त हैं। पुनः, प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक जीव में अपने आत्म–प्रदेशों से सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करने की क्षमता है। जीवद्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा भी पुद्गल–द्रव्य के प्रदेश अनन्त गुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ अनन्त कर्म–पुद्गल संयोजित हैं। यद्यपि काल की प्रदेश–संख्या पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्त गुणी मानी गयी, क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल–द्रव्य की वर्त्तमान, अनादि भूत और अनन्त भविष्य की दृष्टि से अनन्त पर्यायें होती हैं, अतः काल की प्रदेश–संख्या सर्वाधिक होनी चाहिए, फिर भी कालाणुओं का समावेश पुद्गल–द्रव्य के प्रदेशों में होने की वजह से अस्तिकाय में पुद्गल–द्रव्य के प्रदेशों की संख्या ही सर्वाधिक मानी गयी है।

इस समग्र विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अस्तिकाय की अवधारणा और द्रव्य की अवधारणा के वर्ण्य–विषय एक ही हैं।

षट्द्रव्यों की अवधारणा

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि प्रारम्भ में जैनदर्शन में पंच *अस्तिकाय की अवधारणा ही थी।* अपने इतिहास की दृष्टि से यह

अवधारणा पार्श्वयुगीन थी। 'इसिभासियाइं' के पार्श्व नामक इकतीसवें अध्याय में पार्श्व के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रस्तुतिकरण करते हुए विश्व के मूल घटकों के रूप में पंचास्तिकायों का उल्लेख हुआ है। भगवतीसूत्र में महावीर ने पार्श्व को इसी अवधारणा का पोषण करते हुए यह माना था कि लोक पंचास्तिकायरूप है। यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जैनदर्शन में काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया था। उसे जीव एवं पुद्गल की पर्याय के रूप में ही व्याख्यायित किया जाता था। प्राचीन स्तर के आगमों में उत्तराध्ययन ही ऐसा आगम है, जहाँ काल को सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। यह स्पष्ट है कि जैन–परम्परा में उमास्वाति के काल तक, काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं– इस प्रश्न को लेकर मतभेद था। इस प्रकार, जैन–आचार्यों में तृतीय–चतुर्थ शताब्दी तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ चल रही थीं। कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान् पाठ 'कालश्चेत्येके' का निर्देश करता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि कुछ विचारक काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानने लगे थे। लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी में आकर काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था और यही कारण था कि सर्वार्थसिद्धिकार ने 'कालश्चेत्येके' सूत्र के स्थान पर 'कालश्च'– इस सूत्र को मान्य किया था। जब श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों ही परम्पराओं में काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मान लिया गया, तो अस्तिकाय और द्रव्य शब्दों के वाच्य विषयों में एक अन्तर आ गया। जहाँ अस्तिकाय के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल– ये पाँच ही द्रव्य माने गये, वहाँ द्रव्य की अवधारणा के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल– ये षट्द्रव्य माने गये। वस्तुतः, अस्तिकाय की अवधारणा जैन–परम्परा की अपनी मौलिक और प्राचीन अवधारणा थी। उसे जब वैशेषिक–दर्शन की द्रव्य की अवधारणा के साथ स्वी.त किया गया, तो प्रारम्भ में तो पाँच अस्तिकायों को ही द्रव्य माना गया, किन्तु जब काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई, तो द्रव्यों की संख्या पाँच से बढ़कर छह हो गई। चूँकि आगमों में कहीं भी अस्तिकाय–वर्ग

(1)

चेतनालक्षण के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण

1. जीव

2. अजीव

- 2. रूपी
  - पुद्गल
- अरूपी
  - 3. धर्म
  - 4. अधर्म
  - 5. आकाश
  - 6. समय (काल)

(2)

अस्तिकाय की अवधारणा के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण

- अस्तिकाय
  - 1. जीवन
  - 2. पुद्गल
  - 3. धर्म
  - 4. अधर्म
  - 5. आकाश
- अनस्तिकाय
  - 6.अद्वासमय (काल)

(3)

मूर्त्तता या अमूर्त्तता के आधार पर द्रव्यों का वर्गीकरण

- मूर्त्त
  - 1. पुद्गल
- अमूर्त्त
  - 2. जीव
  - 3. धर्म
  - 4. अधर्म
  - 5. आकाश
  - 6. समय या काल

के अन्तर्गत काल की गणना नहीं थी, अतः काल को अनस्तिकाय–वर्ग में रखा गया और यह मान लिया गया कि काल जीव और पुद्गल के परिवर्तनों का निमित्त है और कालाणु तिर्यक् प्रदेश–प्रचयत्व से रहित हैं, अतः काल अनस्तिकाय है। इस प्रकार, द्रव्यों के वर्गीकरण में सर्वप्रथम दो प्रकार के वर्गीकरण बने– 1. अस्तिकाय–द्रव्य और 2. अनस्तिकाय–द्रव्य। अस्तिकाय–द्रव्यों के वर्ग के अन्तर्गत जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल– इन पाँच द्रव्यों को रखा गया और अनस्तिकाय–वर्ग के अन्तर्गत काल को रखा गया। आगे चलकर द्रव्यों के वर्गीकरण का आधार चेतना–लक्षण और मूर्त्तता–लक्षण को भी माना गया। चेतना–लक्षण की दृष्टि से जीव को चेतन–द्रव्य और शेष पाँच– धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन–द्रव्य कहा गया। इसी प्रकार, मूर्त्तता–लक्षण की अपेक्षा से पुद्गल को मूर्त्त–द्रव्य और शेष पाँच– जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त्त–द्रव्य माना गया। इस प्रकार, द्रव्यों के वर्गीकरण की तीन शैलियाँ अस्तित्व में आईं, जिन्हें हम निम्न सारणियों व आधार पर स्पष्टतया समझ सकते हैं –

द्रव्य, गुण और पद्रार्थों के उपर्युक्त वर्गीकरण के पश्चात् इन षट्द्रव्यों के स्वरूप और लक्षण पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। इन षट्द्रव्यों में पाँच द्रव्य अस्तिकाय भी कहे जाते है। इन पंच अस्तिकायों में काल को मिलाकर षट्द्रव्य माने गये हैं। अब हम इन षट्द्रव्यों की पृथक्–पृथक् रूप से चर्चा करेंगे।

जीव–द्रव्य

जीवद्रव्य को अस्तिकाय–वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग या चेतना को माना गया है, इसीलिए इसे चेतन–द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा ही आगमों में मिलती है– निराकार उपयोग और साकार उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहा जाता है। निराकार उपयोग को वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण दर्शन कहा जाता है और साकार उपयोग को वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का ग्रहण करने के कारण

ज्ञान कहा जाता है। जीवद्रव्य के सन्दर्भ में जैनदर्शन की विशेषता यह है कि वह जीवद्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार, प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार, संक्षेप में जीवतन्त्र अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक द्रव्य वाला है।

धर्म–द्रव्य

धर्मद्रव्य की इस चर्चा के प्रसंग में सर्वप्रथम हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ वह नहीं है, जिसे सामान्यतया ग्रहण किया जाता है। यहाँ 'धर्म' शब्द न तो स्वभाव का वाचक है, न कर्त्तव्य का और न साधना या उपासना के विशेष प्रकार का, अपितु इसे जीव एवं पुद्गल की गति के सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जो जीव और पुद्गल की गति के माध्यम का कार्य करता है, उसे धर्मद्रव्य कहा जाता है। जिस प्रकार मछली की गति जल के माध्यम से ही सम्भव होती है, अथवा जैसे विद्युत्–धारा उसके चालक द्रव्य के तार आदि के माध्यम से ही प्रवाहित होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल विश्व में प्रसारित धर्मद्रव्य के माध्यम से ही गति करते हैं। इसका प्रसार–क्षेत्र लोक तक सीमित है। अलोक में धर्मद्रव्य का अभाव है, इसीलिए उसमें जीव और पुद्गल की गति सम्भव नहीं होती और यही कारण है कि उसे अलोक कहा जाता है। अलोक का तात्पर्य है कि जिसमें जीव और पुद्गल का अभाव हो। धर्मद्रव्य प्रसारित स्वभाव वाला (अस्तिकाय) होकर भी अमूर्त्त (अरूपी) और अचेतन है। धर्मद्रव्य एक और अखण्ड द्रव्य है। जहाँ जीवात्माएँ अनेक मानी गई हैं, वहीं धर्मद्रव्य एक ही है। लोक तक सीमित होने के कारण इसे अनन्तप्रदेशी न कहकर असंख्यप्रदेशी कहा गया है। जैनदर्शन के अनुसार, लोक चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो, वह असीम न होकर ससीम है और ससीम लोक में व्याप्त होने के कारण धर्मद्रव्य को भी आकाश के समान अनन्तप्रदेशी न मानकर असंख्यप्रदेशी मानना ही उपयुक्त है।

अधर्म–द्रव्य

अधर्मद्रव्य भी अस्तिकाय वर्ग के अन्तर्गत आता है। इसका भी

विस्तार क्षेत्र या प्रदेश–प्रचयत्व लोकव्यापी है। अलोक में इसका अस्तित्व नहीं है। अधर्म द्रव्य का लक्षण या कार्य जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना माना गया है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम में सहायक होती है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की अवस्थिति में सहायक होता है। जहाँ धर्मद्रव्य गति का माध्यम (चालक) है, वहाँ अधर्मद्रव्य गति का कुचालक है, अतः उसे स्थिति का माध्यम कहा गया है। यदि अधर्मद्रब्य नहीं होता, तो जीव व पुद्गल की गति का नियमन असम्भव हो जाता और वे अनन्त आकाश में बिखर जाते। जिस प्रकार वैज्ञानिक–दृष्टि से गुरूत्वाकर्षण आकाश में स्थित पुद्गल–पिण्डों को नियंत्रित करता है, उसी प्रकार अधर्म–द्रव्य भी जीव व पुद्गल की गति का नियमन कर उनकी गति को विराम देता है। संख्या की दृष्टि से अधर्मद्रव्य को एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। प्रदेश–प्रचयत्व की दृष्टि से इसका विस्तार क्षेत्र लोक तक सीमित होने के कारण इसे भी असंख्य–प्रदेशी माना जाता है, फिर भी वह एक अखण्ड द्रव्य है, क्योंकि उसका विखण्डन सम्भव नहीं है। धर्म और अधर्म–द्रव्यों में देश–प्रदेश आदि की कल्पना मात्र वैचारिक–स्तर पर ही होती है।

आकाश–द्रव्य

आकाश–द्रव्य भी अस्तिकाय–वर्ग के अन्तर्गत ही आता है, किन्तु जहाँ धर्म और अधर्म–द्रव्यों का विस्तार लोकव्यापी है, वहाँ आकाश का विस्तारक्षेत्र लोक और अलोक–दोनों हैं। आकाश का लक्षण 'अवगाहन' है। वह जीव और अजीव– द्रव्यों को स्थान प्रदान करता है। लोक को भी अपने में समाहित करने के कारण आकाश का विस्तारक्षेत्र लोक के बाहर भी मानना आवश्यक है। यही कारण है कि जैन–आचार्य आकाश के दो विभाग करते हैं– लोकाकाश और अलोकाकाश। विश्व में जो रिक्त स्थान है, वह लोकाकाश है और इस विश्व से बाहर जो रिक्त स्थान है, वह अलोकाकाश है। इस प्रकार, जहाँ धर्म–द्रव्य और अधर्मद्रव्य असंख्य–प्रदेशी माने गए हैं, वहाँ आकाश को अनन्त–प्रदेशी माना गया है। लोक की कोई सीमा हो सकती है, किन्तु अलोक की कोई सीमा नहीं है– वह

अनन्त है। चूँकि आकाश लोक और अलोक– दोनों में है, इसलिए वह अनन्त प्रदेशी है। संख्या की दृष्टि से आकाश को भी एक और अखण्ड द्रव्य माना गया है। उसके देश–प्रदेश आदि की कल्पना भी केवल वैचारिक–स्तर तक ही सम्भव है। वस्तुतः, आकाश में किसी प्रकार का विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है, यही कारण है कि उसे अखण्ड द्रव्य कहा जाता है। जैन–आचार्यों की अवधारणा है कि जिन्हें हम सामान्यतया ठोस पिण्ड समझते हैं, उनमें भी आकाश अर्थात् रिक्त स्थान होता है। एक पुद्गल–परमाणु में भी दूसरे अनन्त पुद्गल–परमाणुओं को अपने में समाविष्ट करने की शक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जबकि उनमें विपुल मात्रा में रिक्त स्थान या आकाश हो, अतः मूर्त्त द्रव्यों में भी आकाश तो निहित ही रहता है। लकड़ी में हम जब कील ठोंकते हैं, तो वह वस्तुतः उसमें निहित रिक्त स्थान में ही समाहित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उसमें भी आकाश है। परम्परागत उदाहरण के रूप में यह कहा जाता है कि दूध या जल के भरे हुए ग्लास में यदि धीरे–धीरे शकर या नमक डाला जाय, तो वह उसमें समाविष्ट हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि दूध या जल से भरे हुए ग्लास में भी रिक्त स्थान अर्थात् आकाश था। वैज्ञानिकों ने भी यह मान लिया है कि प्रत्येक परमाणु में पर्याप्त रूप से रिक्त स्थान होता है, अतः आकाश को लोकालोकव्यापी एक और अखण्ड द्रव्य मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

पुद्गल–द्रव्य

पुद्गल को भी अस्तिकाय–द्रव्य माना गया है। यह मूर्त्त और अचेतन द्रव्य है। पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। जैन– आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं, वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। जैन–आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य इकाई माना है। वस्तुतः, पुद्गल–द्रव्य समस्त दृश्य–जगत् का मूलभूत घटक हैं।

यह दृश्य–जगत् पुद्गल–द्रव्य के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार है। अनेक पुद्गल–परमाणु मिलकर स्कंध की रचना करते हैं और इन

स्कंधों से मिलकर दृश्य– जगत् की सभी वस्तुएं निर्मित होती हैं। नवीन स्कंधों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कन्धों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य–जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्तित्व में आते हैं।

जैन–आचार्यों ने पुद्गल को स्कंध और परमाणु– इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कंध बनते हैं, फिर भी इतना स्पष्ट है कि पुद्गल–द्रव्य का अंतिम घटक तो परमाणु ही है। प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रूप, एक गंध और शीत–उष्ण या स्निग्ध–रूक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते हैं।

जैन–आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं–लाल, पीला, नीला, सफेद और काला, गंध दो हैं– सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं– रिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं– शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, मृदु और कर्कश, हल्का और भारी। ज्ञातव्य है कि परमाणुओं में मृदु, कर्कश, हल्का और भारी– ये चार स्पर्श नहीं होते हैं। ये चार स्पर्श तभी संभव होते हैं, जब परमाणुओं से स्कंधों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्के और भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एकप्रदेशी होता है, जबकि स्कंध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश भी हो सकते हैं। स्कंध, स्कंध–देश, स्कंध–प्रदेश और परमाणु– ये चार पुद्गल–द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है, आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है। इसके विपरीत, आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ, अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कंधों का ही खेल है। परमाणुओं से स्कन्ध कैसे बनते हैं– इसकी विस्तृत चर्चा पुद्गल की अवधारणा के अन्तर्गत अलग से की गई है।

काल–द्रव्य

कालद्रव्य को अनस्तिकाय–वर्ग के अन्तर्गत माना गया है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं– आगमिक–युग तक जैन–परम्परा में काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के सन्दर्भ में पर्याप्त मतभेद था। आवश्यकचूर्णि (भाग–1, पृ. 340–341) में काल के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न तीन मतों

का उल्लेख हुआ है– 1. कुछ विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर पर्याय–रूप मानते हैं। 2. कुछ विचारक उसे गुण मानते हैं। 3. कुछ विचारक उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। श्वेताम्बर–परम्परा में सातवीं शती तक काल के सम्बन्ध में उक्त तीनों विचारधाराएँ प्रचलित रहीं और श्वेताम्बर–आचार्य अपनी–अपनी मान्यतानुसार उनमें से किसी एक का पोषण करते रहे, जबकि दिगम्बर–आचार्यों ने एक मत से काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना। जो विचारक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, उनका तर्क यह था कि यदि धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव–द्रव्य अपनी–अपनी पर्यायों (विभिन्न अवस्थाओं) में स्वतः ही परिवर्तित होते रहते हैं, तो फिर काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता है? आगम में भी जब भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि काल क्या है ? तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि काल जीव–अजीवमय है, अर्थात् जीव और अजीव की पर्यायें ही काल हैं। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि वर्तना अर्थात् परिणमन या परिवर्तन से भिन्न कोई कालद्रव्य नहीं है। इस प्रकार, जीव और अजीव द्रव्य की परिवर्तनशील पर्याय को ही काल कहा गया है। कहीं–कहीं काल को पर्यायरूप द्रव्य कहा गया है। इन सब विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। चूँकि आगम में जीव–काल और अजीव–काल– ऐसे काल के दो वर्गों के उल्लेख मिलते हैं, अतः कुछ जैन–विचारकों ने यह माना कि जीव और अजीव–द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् कालद्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में काल का स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में उल्लेख पाया जाता है। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि न केवल उमास्वाति के युग तक अर्थात् ईसा की तृतीय–चतुर्थ शताब्दी तक, अपितु चूर्णिकाल अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक, काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं – इस प्रश्न पर जैन–दार्शनिकों में मतभेद था, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान् पाठ में उमास्वाति को यह उल्लेख करना पड़ा कि कुछ विचारक काल को भी द्रव्य मानते हैं (कालश्चेत्ये–तत्त्वार्थसूत्र 5/38)। इसका फलितार्थ यह भी है कि उस युग में कुछ जैन–दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। इनके अनुसार, सर्व द्रव्यों की जो

पर्यायें हैं, वे ही काल हैं। इस मान्यता के विरोध में दूसरे पक्ष के द्वारा यह कहा गया कि अन्य द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल स्वतन्त्र द्रव्य है, क्योंकि किसी भी पदार्थ में बाह्य–निमित्त अर्थात् अन्य द्रव्य के उपकार के बिना स्वतः ही परिणमन सम्भव नहीं होता है, जैसे–ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, किन्तु ज्ञानरूप पर्यायें तो अपने ज्ञेय विषय पर ही निर्भर करती हैं। आत्मा को ज्ञान तभी हो सकता है, जब ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय वस्तुतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता हो, अतः अन्य सभी द्रव्यों के परिणमन के लिए किसी बाह्य–निमित्त को मानना आवश्यक है, उसी प्रकार, चाहे सभी द्रव्यों में पर्याय–परिवर्तन की क्षमता स्वतः हो, किन्तु उनके निमित्त–कारण के रूप में कालद्रव्य को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक है। यदि काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जायेगा, तो पदार्थों के परिणमन (पर्याय–परिवर्तन) का कोई निमित्त–कारण नहीं होगा। परिणमन के निमित्त–कारण के अभाव में पर्यायों का अभाव होगा और पर्यायों के अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व भी पर्यायों से पृथक् नहीं है। इस प्रकार सर्वशून्यता का प्रसंग आ जायेगा। अतः, पर्याय–परिवर्तन (परिणमन) के निमित्त कारण के रूप में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना ही होगा। काल को स्वतन्त्र तत्त्व मानने वाले दार्शनिकों के द्वारा इस तर्क के विरोध में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि अन्य द्रव्यों के परिणमन (पर्याय–परिवर्तन) के हेतु के रूप में काल नामक स्वतन्त्र द्रव्य का मानना आवश्यक है, तो फिर अलोकाकाश में होने वाले पर्याय–परिवर्तन का हेतु (निमित्त–कारण) क्या है ? क्योंकि अलोकाकाश में तो आगम में काल–द्रव्य का अभाव माना गया है। यदि उसमें काल द्रव्य के अभाव में पर्याय–परिवर्तन सम्भव है, तो फिर लोकाकाश में भी अन्य द्रव्यों के पर्याय–परिवर्तन हेतु काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानना आवश्यक नहीं है। पुनः, अलोकाकाश में काल के अभाव में यदि पर्याय–परिवर्तन नहीं मानोगे, तो फिर पर्याय परिवर्तन के अभाव में आकाश–द्रव्य में द्रव्य का सामान्य लक्षण 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य' सिद्ध नहीं हो सकेगा और यदि अलोकाकाश में पर्याय–परिवर्तन माना जाता है, तो उस पर्याय– परिवर्तन का निमित्त काल तो नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ उसका अभाव है। इस तर्क के

प्रत्युत्तर में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले आचार्यों का प्रत्युत्तर यह है कि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, उसमे अलोकाकाश एवं लोकाकाश– ऐसे दो भेद किए जाते हैं, वे मात्र औपचारिक हैं। लोकाकाश में कालद्रव्य के निमित्त से होने वाला पर्याय–परिवर्तन सम्पूर्ण आकाशद्रव्य का ही पर्याय परिवर्तन है। अलोकाकाश और लोकाकाश–दोनों आकाशद्रव्य के ही अंश हैं, वे एक–दूसरे से पृथक् नहीं हैं। किसी भी द्रव्य के एक अंश में होने वाला परिवर्तन सम्पूर्ण द्रव्य का परिवर्तन माना जाता है; अतः लोकाकाश में जो पर्याय–परिवर्तन होता है, वह अलोकाकाश पर भी घटित होता है और लोकाकाश में पर्याय–परिवर्तन कालद्रव्य के निमित्त से होता है, अतः लोकाकाश और अलोकाकाश– दोनों के पर्याय–परिवर्तन का निमित्त कालद्रव्य ही है। ज्ञातव्य है कि लगभग सातवीं शताब्दी से काल का स्वतन्त्र द्रव्य होना सर्वमान्य हो गया।

जैन–दार्शनिकों ने काल को अचेतन, अमूर्त्त (अरूपी) तथा अनस्तिकाय– द्रव्य कहा है। इसका कार्य या लक्षण वर्तना माना गया है। विभिन्न द्रव्यों में जो पर्याय–परिवर्तन होता है, उसका निमित्त–कारण कालद्रव्य होता है, यद्यपि उस पर्याय–परिणमन का उपादान–कारण तो स्वयं वह द्रव्य ही होता है, जिस प्रकार धर्म–द्रव्य जीव, पुद्गल आदि की स्वतःप्रसूत गति का निमित्त कारण है या जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था प्राणी की अपनी शारीरिक–संरचना के परिणामस्वरूप ही घटित होती है, फिर भी उनमें निमित्त–कारण के रूप में काल भी अपना कार्य करता है। जैनाचार्यों ने स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, काल आदि जिस कारण पंचक की चर्चा की है, उनमें काल को भी एक महत्त्वपूर्ण घटक माना गया है। जैन–दार्शनिक–साहित्य में कालद्रव्य की चर्चा अनेक प्रकार से की गई है। सर्वप्रथम व्यवहारकाल और निश्चयकाल– ऐसे काल के दो विभाग किये गये हैं, निश्चयकाल अन्य द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन का निमित्त–कारण है। दूसरे शब्दों में, सभी द्रव्यों की वर्तना या परिणमन की शक्ति ही द्रव्यकाल या निश्चयकाल है। व्यवहारकाल को समय, आवलिका, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि रूप कहा गया है। संसार में भूत, भविष्य और वर्त्तमान–सम्बन्धी जो काल–व्यवहार है, वह

भी इसी से होता है। जैन–परम्परा में व्यवहारकाल का आधार सूर्य या चंद्र की गति ही मानी गई है, साथ ही यह भी माना गया है कि यह व्यवहार–काल मनुष्य–क्षेत्र तक ही सीमित है। देवलोक आदि में इसका व्यवहार मनुष्य–क्षेत्र की अपेक्षा से ही है। मनुष्य–क्षेत्र में ही समय, आवलिका, घटिका, प्रहर, रात–दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि का व्यवहार होता है। व्यक्तियों में बालक, युवा और वृद्ध अथवा नूतन, जीर्ण आदि का जो व्यवहार देखा जाता है, वह सब भी काल के ही कारण है, वासनाकाल, शिक्षाकाल, दीक्षाकाल आदि की अपेक्षा से भी काल के अनेक भेद किये जाते हैं, किन्तु विस्तारभय से उन सबकी चर्चा यहाँ करना अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार, कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रत्येक कर्म–प्रकृति के सत्ताकाल आदि की भी चर्चा जैनागमों में मिलती है।

संख्या की दृष्टि से अधिकांश जैन–आचार्यों ने कालद्रव्य को एक नहीं, अपितु अनेक माना है। उनका कहना है कि धर्म, अधर्म, आकाश की तरह काल एक और अखण्ड द्रव्य नहीं हो सकता। काल–द्रव्य अनेक हैं, क्योंकि एक ही समय में विभिन्न व्यक्तियों में अथवा द्रव्यों में जो विभिन्न पर्यायों की उत्पति होती है, उन सबकी उत्पत्ति का निमित्त–कारण एक ही काल नहीं हो सकता, अतः कालद्रव्य को अनेक या असंख्यात–प्रदेशी द्रव्य मानना होगा। पुनः, प्रत्येक पदार्थ की भूत, भविष्य की अपेक्षा से अनन्त पर्यायें होती हैं और उन अनन्त पर्यायों के निमित्त अनन्त कालाणु होंगे, अतः कालाणु अनन्त माने गये हैं। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कालद्रव्य को असंख्य कहा गया, किन्तु कालाणु अनन्त माने गये– ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि कालद्रव्य लोकाकाश तक सीमित है और उसकी इस सीमितता की अपेक्षा से उसे अनन्त–द्रव्य न कहकर असख्यात (ससीम) द्रव्य कहा गया, किन्तु जीव अनन्त है और उन अनन्त जीवों की भूत एवं भविष्य की अनन्त पर्यायें होती हैं, उन अनन्त पर्यायों में प्रत्येक का निमित्त एक कालाणु होता है, अतः कालाणु अनन्त माने गये। सामान्य अवधारणा यह है कि प्रत्येक आत्म–प्रदेशों, पुद्गल–परमाणु और आकाश–प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान कालाणु स्थित रहते हैं, अतः

कालाणु अनन्त हैं। राजवार्त्तिक आदि दिगम्बर—परम्परा के ग्रन्थों में कालाणुओं को अन्योन्य प्रवेश से रहित पृथक्—पृथक् असंचित दशा में लोकाकाश में स्थित माना गया है।

किन्तु, कुछ श्वेताम्बर—आचार्यों ने इस मत का विरोध करते हुए यह भी माना है कि कालद्रव्य एक एवं लोकव्यापी है, वह अणुरूप नहीं है, किन्तु ऐसी स्थिति में काल में भी प्रदेश—प्रचयत्व मानना होगा और प्रदेश—प्रचयत्व मानने पर वह भी अस्तिकाय—वर्ग के अन्तर्गत आ जायेगा। इसके उत्तर में यह कहा गया कि तिर्यक्—प्रचयत्व का अभाव होने से काल अनस्तिकाय है। ऊर्ध्व—प्रचयत्व एवं तिर्यक्—प्रचयत्व की चर्चा हम पूर्व में अस्तिकाय की चर्चा के अन्तर्गत कर चुके हैं। सूक्ष्मता की अपेक्षा से कालाणुओं की अपेक्षा आकाश—प्रदेश और आकाश—प्रदेश की अपेक्षा पुद्गल—परमाणु अधिक सूक्ष्म माने गये हैं। क्योंकि एक ही आकाश—प्रदेश में अनन्त पुद्गल—परमाणु समाहित हो सकते हैं, अतः वे सबसे सूक्ष्म हैं। इस प्रकार, परमाणु की अपेक्षा आकाश—प्रदेश और आकाश— प्रदेश की अपेक्षा कालाणु स्थूल हैं।

संक्षेप में, कालद्रव्य में वर्त्तना—हेतुत्व के साथ—साथ अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व, सूक्ष्मत्व आदि सामान्य गुण भी माने गये हैं। इसी प्रकार, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— लक्षण, जो अन्य द्रव्य में हैं, वे भी कालद्रव्य में पाये जाते हैं। कालद्रव्य में यदि उत्पाद, व्यय लक्षण नहीं रहे, तो वह अपरिवर्तनशील द्रव्य होगा और जो स्वतः अपरिवर्तनशील हो, वह दूसरों के परिवर्तन में निमित्त नहीं हो सकेगा, किन्तु काल—द्रव्य का विशिष्ट लक्षण तो उसका वर्त्तना नामक गुण ही है, जिसके माध्यम से वह अन्य सभी द्रव्यों के पर्याय—परिवर्तन में निमित्त का कारण बनकर कार्य करता है। पुनः, यदि कालद्रव्य में ध्रौव्यत्व का अभाव मानेंगे, तो उसका द्रव्यत्व समाप्त हो जायेगा, अतः उसे स्वतन्त्र द्रव्य मानने पर उसमें उत्पाद, व्यय के साथ—साथ ध्रौव्यत्व भी मानना होगा।

कालचक्र

अर्द्धमागधी आगम—साहित्य में काल की चर्चा उत्सर्पिणी—काल और अवसर्पिणी—काल के रूप में भी उपलब्ध होती है। इनमें प्रत्येक के

छह–छह विभाग किये जाते हैं, जिन्हें आरे कहा जाता है। यह छह आरे निम्न हैं – 1. सुषमा–सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषमा–दुषमा, 4.दुषमा–सुषमा, 5. दुषमा और 6. दुषमा–दुषमा। उत्सर्पिणी–काल में इनका क्रम विपरीत होता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी–काल मिलकर एक कालचक्र पूरा होता है। जैनों की कालचक्र की यह कल्पना बौद्ध और हिन्दू–कालचक्र की कल्पना से भिन्न है, किन्त इन सभी में इस बात को लेकर समानता है कि इन सभी कालचक्र के विभाजन का आधार सुख–दुःख एवं मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक–विकास की क्षमता को बनाया है।

जैनों के अनुसार, उत्सर्पिणी–काल में क्रमशः विकास और अवसर्पिणी–काल में क्रमशः पतन होता है। ज्ञातव्य है कि कालचक्र का प्रवर्त्तन जंबूद्वीप के भरत–क्षेत्र आदि कुछ विभागों में ही होता है।

यद्यपि नव तत्त्वों की इस अवधारणा में जीव (आत्मा) और पुद्गल महत्वपूर्ण हैं, अतः सर्वप्रथम इन दोनों पर थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

इन नव तत्त्वों में से जीव और अजीव को छोड़कर शेष सात तत्त्व आत्मा और कर्म के पारस्परिक–सम्बन्ध के सूचक हैं। कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा की ओर आना आस्रव है। उन दोनों का सम्बन्ध बन जाना ही बन्ध है। अशुभ कर्मों का आस्रव एवं बन्ध पाप है और शुभ कर्मों का आस्रव और बन्ध पुण्यरूप है। आत्मा और कर्म–पुद्गलों का आगमन रुक जाना संवर है, आत्मा और कर्म–पुद्गलों का सम्बंन्ध–विच्छेद होना निर्जरा है और आत्मा का कर्मपुद्गलों से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद हो जाना मोक्ष है। आगे हम इन्हीं नव तत्त्वों की चर्चा करेंगे।

नव तत्त्व

जैन–आत्मवाद का वैशिष्ट्य

धर्म और नैतिकता आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं पर अधिष्ठित रहते हैं। किसी भी धर्म एवं उसकी नैतिक–विचारणा को उसके आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के अभाव में समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। महावीर के धर्म एवं नैतिक–सिद्धान्तों के औचित्य–स्थापन के पूर्व उनके आत्मवाद का औचित्य–स्थापन आवश्यक है, साथ ही, महावीर के आत्मवाद

को समझने के लिए उनके समकालीन विभिन्न आत्मवादों का समालोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यद्यपि भारतीय आत्मवादों के सम्बन्ध में वर्त्तमान युग में श्री ए.सी. मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'The Nature of Self' एवं श्री एस.के. सक्सेना ने अपनी पुस्तक 'Nature of Conciousness in Hindu Philosophy' में विचार किया है, लेकिन उन्होंने महावीर के समकालीन आत्मवादों पर समुचित रूप से कोई विचार नहीं किया है। श्री धर्मानन्द कौशाम्बीजी द्वारा अपनी पुस्तक 'भगवान् बुद्ध' में यद्यपि इस प्रकार का एक लघु प्रयास अवश्य किया गया है, फिर भी इस सम्बन्ध में एक व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक भारतीय–विचारकों की यह मान्यता है कि महावीर एवं बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मवाद–सम्बन्धी कोई निश्चित दर्शन नहीं था। तत्कालीन सभी ब्राह्मण और श्रमण–मतवाद केवल नैतिक–विचारणाओं एवं कर्मकाण्डीय–व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते थे। सम्भवतः, इस धारणा का आधार तत्कालीन औपनिषदिक–साहित्य है, जिसमें आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न परिकल्पनाएं किसी एक आत्मवादी–सिद्धान्त के विकास के निमित्त संकलित की जा रही थीं। उपनिषदों का आत्मवाद विभिन्न श्रमण–परम्पराओं के आत्मवादी–सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। उपनिषदों में आत्मा–सम्बन्धी परस्पर विपरीत धारणाएं जिस बीज रूप में विद्यमान हैं, वे इस तथ्य की पुष्टि में सबल प्रमाण हैं। हाँ, इन विभिन्न आत्मवादों को ब्रह्म की धारणा में संयोजित करने का प्रयास उनका अपना मौलिक है।

लेकिन, यह मान लेना कि महावीर अथवा बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मासम्बन्धी दार्शनिक–सिद्धान्त थे ही नहीं, एक भ्रान्त धारणा है।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि महावीर के समकालीन विभिन्न विचारकों में आत्मवाद सम्बन्धी विभिन्न धारणाएं विद्यमान थीं। कोई उसे सूक्ष्म कहता था, तो कोई उसे विभु। किसी के अनुसार आत्मा नित्य थी, तो कोई उसे क्षणिक मानता था। कुछ विचारक उसे (आत्मा को) कर्त्ता

मानते थे, तो कुछ उसे निष्क्रिय एवं कूटस्थ मानते थे। इन्हीं विभिन्न आत्मवादों की अपूर्णता एवं किसी नैतिक–व्यवस्था को प्रस्तुत करने की अक्षमताओं के कारण ही तीन नये विचार सामने आये– एक ओर था– उपनिषदों का सर्व–आत्मवाद या ब्रह्मवाद, दूसरी ओर था– बुद्ध का अनात्मवाद और तीसरी विचारणा थी– जैन–आत्मवाद की, जिसने इन विभिन्न आत्मवादों को एक जगह समन्वित करने का प्रयास किया।

इन विभिन्न आत्मवादों की समालोचना के पूर्व इनके अस्तित्व–सम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जाने आवश्यक हैं। बौद्ध पालि त्रिपिटक, अकृत जैनागम एवं उपनिषदों के विभिन्न प्रसंग इस संदर्भ में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध पालि त्रिपिटक के अन्तर्गत सुत्तपिटक में, दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में एवं मज्झिमनिकाय के चूल सारोपुत्त सुत्त में इन आत्मवादों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि उपर्युक्त सुत्तों में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह बाह्यतः नैतिक–आचार–सम्बन्धी प्रतीत होती है, लेकिन यह जिस रूप में प्रस्तुत की गई है, उसे देखकर हमें गहन विवेचना में उतरना होता है, जो अन्ततोगत्वा हमें किसी आत्मवाद–सम्बन्धी दार्शनिक–निर्णय पर पहुँचा देती है।

पालि त्रिपिटक में बुद्ध के समकालीन इन आचार्यों को जहाँ एक ओर गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर तथा बहुजनों द्वारा सुसम्मत कहा गया है, वहीं दूसरी ओर, उनके नैतिक–सिद्धान्तों को इतने गर्हित एवं निन्द्य रूप में प्रस्तुत किया गया है कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अतः, यह स्वाभाविक रूप से शंका उपस्थित होती है कि क्या ऐसी निन्द्य नैतिकता का उपदेश देने वाला व्यक्ति लोकसम्मानित धर्माचार्य हो सकते हैं, लोकपूजित हो सकते हैं?

यही नहीं कि ये आचार्यगण लोकपूजित ही थे, वरन् वे आध्यात्मिक–विकास के निमित्त विभिन्न साधनाएं भी करते थे, उनके शिष्य एवं उपासक भी थे। उपर्युक्त तथ्य किसी निष्पक्ष गहन विचारणा की अपेक्षा रखते हैं, जो इसके पीछे रहे हुए सत्य का उदघाटन कर सके।

मेरी विनम्र सम्मति में उपर्युक्त विचारकों की नैतिक–विचारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता हैं कि

वह उन विचारकों की नैतिक–विचारणा नहीं है, वरन् उनके आत्मवाद या अन्य दार्शनिक– मान्यताओं के आधार पर निकाला हुआ नैतिक–निष्कर्ष है, जो विरोधी पक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैनागमों, जैसे– सूत्र.तांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), उत्तराध्ययन आदि में भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन आत्मवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक– साहित्य में प्राचीनतम उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक हैं, उनमें भी तत्कालीन आत्मवादों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् एवं गीता में भी इन विभिन्न आत्मवादी धारणाओं का प्रभाव यत्र–तत्र यथेष्ट रूप में देखने को मिल सकता है।

विस्तारभय से यहाँ उक्त सभी ग्रन्थों के विभिन्न संकेतों के आधार पर उनसे प्रतिफलित होने वाले आत्मवादों की विचारणा सम्भव नहीं है, अतः हम यहाँ कुछ आत्मवादों का वर्गी.त रूप में मात्र संक्षिप्त अध्ययन ही करेंगे। इनका विस्तृत और पूर्ण अध्ययन तो स्वतन्त्र गवेषणा का विषय है।

इस दृष्टि से हमारे अध्ययन में निम्न वर्गीकरण सहायक हो सकता है–

1– नित्य या शाश्वत आत्मवाद,

2– अनित्य–आत्मवाद, उच्छेद–आत्मवाद, या देहात्मवाद,

3– कूटस्थ–आत्मवाद, अक्रिय–आत्मवाद या नियतिवाद,

4– परिणामी–आत्मवाद, आत्म–कर्तृत्ववाद या पुरुषार्थवाद,

5– सूक्ष्म–आत्मवाद,

6– विभु–आत्मवाद,

7– अनात्मवाद,

8– सर्व–आत्मवाद या ब्रह्मवाद।

प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त सभी आत्मवादों का विवेचन सम्भव नहीं है, दूसरे, अनात्मवाद और सर्व आत्मवाद के सिद्धान्त क्रमशः बौद्ध और वेदान्त–परम्परा में विकसित हुए हैं, जो काफी विस्तृत हैं, साथ ही लोक–प्रसिद्ध हैं, अतः उनका विवेचन यहाँ प्रस्तुत नहीं किया गया है। परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप से जैनों के अतिरिक्त किसका था, यह ज्ञात नहीं हो सका। प्रस्तुत प्रयास में इन विभिन्न

आत्मवादों के वर्गीकरण में मुख्यतः एक स्थूल दृष्टि रखी गई है और इसी हेतु कूटस्थआत्मवाद, नियतिवाद को एवं परिणामी–आत्मवाद और पुरुषार्थवाद को महावीर के आत्मवाद का मुख्य अंग मान लिया गया है। फिर भी, महावीर का आत्म–दर्शन समन्वयात्मक है, अतः उनके आत्म–दर्शन को एकान्त रूप से उस वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

अनित्य–आत्मवाद

महावीर के समकालीन विचारकों में इस अनित्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व अजितकेशकम्बल करते हैं। इस धारणा के अनुसार, आत्मा या चैतन्य इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है और इसके नष्ट हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है। उनके दर्शन एवं नैतिक–सिद्धान्तों को बौद्ध–त्रिपिटक–साहित्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है –

दान, यज्ञ, हवन व्यर्थ हैं, सुकृत–दुष्कृत कर्मों का फल विपाक नहीं। यह लोक–परलोक नहीं। माता–पिता नहीं, देवता नहीं ......। आदमी चार महाभूतों का बना है, जब मरता है, तब (शरीर की) पृथ्वी पृथ्वी में, पानी पानी में, आग आग में और वायु वायु में मिल जाती है....... दान मूर्खों का उपदेश है.... मूर्ख हो चाहे पण्डित, शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं।

बाह्य–रूप से देखने पर अजित की यह धारणा स्वार्थ–सुखवाद की नैतिक–धारणा के समान प्रतीत होती है और उसका दर्शन या आत्मवाद भौतिकवादी परिलक्षित होता है, लेकिन पुनः यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि यदि अजितकेशकम्बल नैतिक–धारणा में सुखवादी और उनका दर्शन भौतिकवादी था, तो फिर वह स्वयं साधना–मार्ग और देह–दण्डन के पथ का अनुगामी क्यों था, उसने किस हेतु श्रमणों एवं उपासकों का संघ बनाया था। यदि उसकी नैतिकता भोगवादी थी, तो उसे स्वयं संन्यास–मार्ग का पथिक नहीं बनना था, न उसके संघ में संन्यासी या गृहत्यागी–वर्ग का स्थान ही होना था।

सम्भवतः, वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि अजित दार्शनिक–दृष्टि से अनित्यवादी था, जगत् की परिवर्तनशीलता पर ही उसका जोर था। वह लोक, परलोक, देवता, आत्मा आदि किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं मानता

था। उसका यह कहना– "यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता–पिता नहीं, देवता नहीं...." केवल इसी अर्थ का द्योतक है कि इन सभी की शाश्वत सत्ता नहीं है, सभी अनित्य हैं। वह आत्मा को भी अनित्य मानता था और इसी आधार पर यह कहा गया कि उसकी नैतिक–धारणा में सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं।

पश्चिम में यूनानी– दार्शनिक हेराक्लिटक्स (535 ई.पू.) भी इसी का समकालीन था और वह भी अनित्यवादी ही था।

सम्भवतः, अजित भी नित्य–आत्मवाद के आधार पर नैतिकता की धारणा को स्थापित करने में उत्पन्न होने वाली दार्शनिक–कठिनाईयों से अवगत था, क्योंकि नित्य–आत्मवाद के आधार पर हिंसा की बुराई को समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि आत्मा नित्य है, तो फिर हिंसा किसकी? अतः अजित ने यज्ञ, याग एवं युद्ध–जनित हिंसा से मानव–जाति को मुक्त करने के लिए अनित्य–आत्मवाद का उपदेश दिया होगा।

साथ ही, ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक–क्लेशों से भी मानव–जाति को मुक्त करना चाहता था और इसी हेतु उसने गृह–त्याग और देह–दण्डन, जिससे आत्म–सुख और भौतिक–सुख की विभिन्नता को समझा जा सके, को भी आवश्यक माना था।

इस प्रकार, अजित का दर्शन आत्म–अनित्यवाद का दर्शन है और उसकी नैतिकता है– आत्म–सुख (नइरमबजपअम च्समेंनतम) की उपलब्धि।

सम्भवतः, ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने अनात्मवादी–दर्शन के निर्माण में अजित का यह अनित्य–आत्मवाद अपना लिया था और उसकी नैतिक–धारणा में से देह–दण्डन की प्रणाली को समाप्त कर दिया था। यही कारण है कि अजित की यह दार्शनिक–परम्परा बुद्ध की दार्शनिक–परम्परा के प्रारम्भ होने पर विलुप्त हो गई। बुद्ध के दर्शन ने अजित के अनित्यवादी आत्म–सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी नैतिक–धारणा को परिष्कृत कर उसे ही एक नये रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अनित्य–आत्मवाद के सम्बन्ध में जैनागम उत्तराध्ययन के 14 वें

अध्ययन की 18 वीं गाथा में भी विवेचन प्राप्त होता है, जहाँ यह बताया गया कि यह आत्मा शरीर में उसी प्रकार रहती है, जैसे तिल में तेल, अरणी में अग्नि या दूध में घृत रहता है और इस शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही वह नष्ट हो जाती है।

औपनिषदिक–साहित्य में कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली के अध्याय–1 के 20वें श्लोक में नचिकेता भी यह रहस्य जानना चाहता है कि आत्मनित्यतावाद और आत्म–अनित्यतावाद में कौनसी धारणा सत्य है और कौनसी असत्य?

इस प्रकार, यह तो निर्भ्रान्त रूप से सत्य है कि महावीर के समकालीन विचारकों में आत्म–अनित्यतावाद को मानने वाले कुछ विचारक थे, लेकिन वह अनित्य–आत्मवाद भौतिक–आत्मवाद नहीं, वरन् दार्शनिक–अनित्य–आत्मवाद था। उनके मानने वाले विचारक आधुनिक सुखवादी विचारकों के समान भौतिक– सुखवादी नहीं थे, वरन् वे आत्म–शान्ति एवं आसक्तिनाश या तृष्णाक्षय के हेतु प्रयासशील थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजित का दर्शन और धर्म (नैतिकता) बौद्धदर्शन एवं धर्म की पूर्व– कड़ी था। बौद्धों ने उसके दर्शन की जो आलोचना की थी अथवा उसके दर्शन के जो नैतिक–निष्कर्ष प्रस्तुत किये थे कि दुष्कृत एवं सुकृत कर्मों का विपाक नहीं हैं, वे एकान्ततः सत्य नहीं हैं, यही आलोचना तो काल–क्रम में बौद्ध– आत्मवाद को कृतप्रणाश एवं अकृत–कर्मभोग के दोष से युक्त कहकर हेमचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत की।

अनित्य–आत्मवाद की धारणा नैतिक–दृष्टि से उचित नहीं बैठती, क्योंकि उसके आधार पर कर्म–विपाक या कर्म–फल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता। समस्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल तत्काल प्राप्त नहीं होता, अतः कर्म–फल की धारणा के लिए नित्य–आत्मवाद की ओर आना होता है। दूसरे, अनित्य–आत्मवाद की धारणा में पुण्य–संचय, परोपकार, दान आदि के नैतिक– आदर्शों का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

नित्यकूटस्थ–आत्मवाद

वर्त्तमान दार्शनिक–परम्पराओं में भी अनेक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि आत्मा कूटस्थ (निष्क्रिय) एवं नित्य है, सांख्य और वेदान्त भी इसके

समर्थक हैं। जिन विचारकों ने आत्मा को कूटस्थ माना है, उन्होंने उसे नित्य भी माना है, अतः हमने भी अपने विवेचन हेतु नित्य–आत्मवाद और कूटस्थ–आत्मवाद– दोनों को समन्वित रूप से एक ही साथ रखा है। महावीर के समकालीन कूटस्थ–नित्य आत्मवाद के प्रतिनिधि पूर्णकश्यप थे।

पूर्णकश्यप के सिद्धान्तों का चित्रण बौद्ध–साहित्य में इस प्रकार से है– अगर कोई क्रिया करे, कराये, काटे, कटवाये, कष्ट दे या दिलाये, चोरी करे, प्राणियों को मार डाले, परदार गमन करे या असत्य बोले, तो भी उसे पाप नहीं। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के प्राणियों के माँस का ढेर लगा दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं है, दोष नहीं है– दान, धर्म और सत्य–भाषण से कोई पुण्य प्राप्ति नहीं होती।

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है कि इस प्रकार का उपदेश देने वाला कोई यशस्वी, लोकसम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता, वरन् कोई धूर्त होगा, लेकिन पूर्णकश्यप एक लोकपूजित शास्ता थे, अतः यह निश्चित है कि ऐसा अनैतिक–दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता, यह उनके आत्मवाद का नैतिक–फलित होगा, जो विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, फिर भी इसमें इतनी सत्यता अवश्य होगी कि पूर्णकश्यप आत्मा को अक्रिय मानते थे। वस्तुतः, उनकी आत्म–अक्रियता की धारणा का उपर्युक्त निष्कर्ष निकालकर उनके विरोधियों ने उनके मत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णकश्यप के इस आत्म–अक्रियवाद को उसके पश्चात् कपिल के सांख्यदर्शन और भगवद्गीता में भी अपना लिया गया था। कपिल और भगवद्गीता का काल लगभग 400 ई.पू. माना जाता है और इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ये दर्शन पूर्णकश्यप के आत्म–अक्रियवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। कपिल के दर्शन में आत्म–अक्रियवाद के साथ ही ईश्वर का अभाव इस बात का सबल प्रमाण है कि वह किसी अवैदिक–श्रमण– परम्परा के दर्शन से प्रभावित था और वह दर्शन पूर्णकश्यप का आत्म–अक्रियवाद का दर्शन ही होगा, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था। सांख्य– दर्शन भी आत्मा को त्रिगुणयुक्त प्र.ति से भिन्न मानता है और मारना, मरवाना आदि सभी

को प्र.ति का परिणाम मानता है। आत्मा इस सबसे प्रभावित नहीं होती है। वह यह भी नहीं मानता है कि आत्मा को नष्ट किया जा सकता है। आत्मा बन्धन में नहीं आता, वरन् प्र.ति ही प्र.ति को बांधती है, अतः शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव भी आत्मा पर नहीं पड़ता। इस प्रकार, पूर्णकश्यप का दर्शन कपिल के दर्शन का पूर्ववर्ती था। इसी प्रकार, गीता में भी पूर्णकश्यप के इस आत्म–अक्रियवाद की प्रतिध्वनि यत्र–तत्र सुनाई देती है, जो सांख्यदर्शन के माध्यम से उस तक पहुंची थी। स्थानाभाव से हम यहाँ उन सब प्रमाणों को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पाठकगण उल्लिखित स्थानों पर उन्हें देख सकते हैं।

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर बौद्ध–साहित्य में प्रस्तुत पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण को एक सही दृष्टिकोण से समझा जा सकता है, फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त आत्म–अक्रियवाद की धारणा नैतिक–सिद्धान्तों के स्थापन में तार्किक–दृष्टि से उपयुक्त नहीं ठहरती है।

यदि आत्मा अक्रिय है, वह किसी क्रिया का कर्त्ता नहीं है, तो फिर वह शुभाशुभ कार्यों का उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकता है। स्वयं प्र.ति भी चेतना एवं शुभाशुभ के विवेक के अभाव में उत्तरदायी नहीं बनती। इस प्रकार, आत्म–अक्रियवाद के सिद्धान्त में उत्तरदायित्व की धारणा को अधिष्ठित नहीं किया जा सकता और उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता, कर्त्तव्य, धर्म आदि का मूल्य शून्यवत् हो जाता है।

इस प्रकार, आत्म–अक्रियतावाद सामान्य बुद्धि की दृष्टि से एवं नैतिक–नियमों के स्थापन की दृष्टि से अनुपयोगी ठहरता है, फिर भी दार्शनिक–दृष्टि से इसका कुछ मूल्य है, क्योंकि स्वभावतया आत्मा को अक्रिय माने बिना मोक्ष एवं निर्वाण की व्याख्या सम्भव नहीं थी। यही कारण था कि आत्म–अक्रियतावाद या कूटस्थ–नित्य–आत्मवाद का प्रभाव दार्शनिक–विचारणा पर बना रहा।

निष्क्रिय–आत्मविकासवाद एवं नियतिवाद

आत्म–अक्रियतावाद या कूटस्थ–आत्मवाद की एक धारा नियतिवाद भी थी। यदि आत्मा अक्रिय है एवं कूटस्थ है, तो पुरुषार्थवाद के द्वारा

आत्मविकास एवं निर्वाण–प्राप्ति की धारणा को नहीं समझाया जा सकता था।

मंक्खलीपुत्र गोशालक, जो आजीवक–सम्प्रदाय का प्रमुख था– पूर्णकश्यप की आत्म–अक्रियतावाद की धारणा का तो समर्थक था, लेकिन अक्रिय–आत्मवाद के कारण वह आत्म–विकास की परम्परा को व्यक्त करने में असमर्थ था, अतः निम्न योनि से आत्म–विकास की उच्चतम स्थिति निर्वाण को प्राप्त करने के लिए उसने निष्क्रिय आत्म–विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। सामान्यतया, उसके सिद्धान्त को नियंतिवाद किंवा भाग्यवाद कहा गया है, लेकिन मेरी दृष्टि में उस सिद्धान्त को निष्क्रिय आत्म–विकासवाद कहा जाना ही अधिक समुचित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोशालक भी उस युग का प्रबुद्ध व्यक्ति था, उसने अपने आजीवक–सम्प्रदाय में पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय को भी शामिल कर लिया था। प्रारम्भ में उसने भगवान् महावीर के साथ अपनी साधना–पद्धति को प्रारम्भ किया था, लेकिन उनसे वैचारिक–मतभेद होने पर उसने पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय से मिलकर आजीवक–सम्प्रदाय स्थापित कर लिया होगा, जिसका दर्शन एवं सिद्धान्त पूर्णकश्यप की धारणाओं से प्रभावित थे, तो साधना–मार्ग का बाह्य– स्वरूप महावीर की साधना–पद्धति से प्रभावित था।

बौद्ध–त्रिपिटक एवं जैनागम–दोनों में ही उसकी विचारणा का कुछ स्वरूप प्राप्त होता है। यद्यपि उसका प्रस्तुतिकरण एक विरोधी पक्ष के द्वारा हुआ है, यह तथ्य ध्यान में रखना होगा।

गोशालक की विचारणा का स्वरूप पालि आगम में निम्नानुसार है–

हेतु के बिना– प्राणी अपवित्र होता है, हेतु के बिना– प्राणी शुद्ध होते हैं– पुरुष की सामर्थ्य से कुछ नहीं होता– सर्व सत्व सर्व प्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव, अवश, दुर्बल, निवीर्य हैं, वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणित होते हैं।

इसके आगे उसकी नैतिकता की धारणा को पूर्वोक्त प्रकार से भ्रष्ट रूप में उपस्थित किया गया है, जो विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त आधार पर उसकी धारणा का सार यही है कि आत्मा

निष्क्रिय है, अवीर्य है, इसका विकास स्वभावतः होता रहता है। विभिन्न योनियों में होता हुआ यह जीवात्मा अपना विकास करता है और निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

लेकिन, ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक–दृष्टि से वह व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता था, अन्यथा वह स्वयं भी नग्न रहना आदि देह–खण्डन को क्यों स्वीकार करता? जिस प्रकार बाद में गीता में अपनी–अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया गया था। वर्त्तमान युग में ब्रेडले ने (Mystation and its dutiè) समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने के नैतिक–सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार वह छः अभिजातियों (वर्गों) को उनकी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता होगा और यह मानता होगा कि आत्मा अपनी अभिजातियों के कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वतः विकास की क्रमिक गति से आगे बढ़ता रहता है।

पारमार्थिक–दृष्टि से या तार्किक–दृष्टि से नियतिवादी विचारणा का चाहे कुछ मूल्य रहा हो, लेकिन नैतिक–विवेचना में नियतिवाद अधिक सफल नहीं हो पाया। नैतिक–विवेचना में इच्छा–स्वातन्त्र्य (Free-Will) की धारणा आवश्यक है, जबकि नियतिवाद में उसका कोई स्थान नहीं रहता है, फिर दार्शनिक–दृष्टि से भी नियतिवादी तथा स्वतः विकासवादी धारणाएं भी निर्दोष हों– ऐसी बात भी नहीं है।

नित्यकूटस्थ–सूक्ष्म–आत्मवाद

बुद्ध का समकालीन एक विचारक पकुधकच्चायन आत्मा को नित्य और कूटस्थ (अक्रिय) मानने के साथ ही उसे सूक्ष्म मानता था। 'ब्रह्मजालसुत्त' के अनुसार उसका दृष्टिकोण इस प्रकार का था –

सात पदार्थ किसी के– बने हुए नहीं हैं (नित्य हैं), वे तो अवध्य कूटस्थ– अचल हैं। – जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नहीं लेता। बस इतना ही समझना चाहिए कि सात पदार्थों के बीच अवकाश में उसका शस्त्र घुस गया है।

इस प्रकार, इस धारणा के अनुसार आत्मा नित्य और कूटस्थ तो थी ही, साथ ही सूक्ष्म और अछेद्य भी थी। पकुधकच्चायन की इस धारणा के

तत्त्व उपनिषदों तथा गीता में भी पाये जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा को जौ, सरसों या चावल के दाने से सूक्ष्म माना गया है तथा गीता में उसे अछेद्य, अबध्य कहा गया है।

सूक्ष्म–आत्मवाद की धारणा भी दार्शनिक–दृष्टि से अनेक दोषों से पूर्ण है, अतः बाद में इस धारणा में काफी परिष्कार हुआ है।

महावीर का आत्मवाद

यदि उपर्युक्त आत्मवादों का तार्किक–वर्गीकरण किया जाये, तो हम उनके छह वर्ग बना सकते हैं

(1) अनित्य आत्मवाद या उच्छेद–आत्मवाद,

(2) नित्य–आत्मवाद या शाश्वत–आत्मवाद,

(3) कूटस्थ–आत्मवाद या निष्क्रिय–आत्मवाद एवं नियतिवाद,

(4) परिणामी–आत्मवाद या कर्त्ता–आत्मवाद या पुरुषार्थवाद,

(5) सूक्ष्म–आत्मवाद,

(6) विभु–आत्मवाद (यही बाद में उपनिषदों का सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद बना है)।

महावीर अनेकान्तवादी थे, साथ ही वे इन विभिन्न आत्मवादों की दार्शनिक एवं नैतिक–कमजोरियों को भी जानते रहे होंगे, अतः उन्होंने अपने आत्मवाद को इनमें से किसी भी सिद्धान्त के साथ नहीं बांधा। उनका आत्मवाद इनमें से किसी भी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता, वरन् उनका आत्मवाद इन सबका एक सुन्दर समन्वय है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतरागस्तोत्र में एकांतनित्य–आत्मवाद और एकान्त–अनित्य–आत्मवाद के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि वीतराग का दर्शन इन दोनों के दोषों से मुक्त है। विस्तारभय से यहाँ नित्य– आत्मवाद और अनित्य–आत्मवाद तथा कूटस्थ–आत्मवाद या अपरिणामी आत्मवाद के दोषों की विवेचना में न पड़कर हमें केवल यही देखना है कि महावीर ने इन विभिन्न आत्मवादों का किस रूप से समन्वय किया है–

(1) नित्यता– आत्मा अपने अस्तित्व की दृष्टि से सदैव रहता है

अर्थात् नित्य है। दूसरे शब्दों में, आत्मा तत्त्व–रूप से नित्य है, शाश्वत है।

(2) अनित्यता– आत्मा पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। आत्मा के एक समय में जो पर्याय रहते हैं, वे दूसरे समय में नहीं रहते हैं। आत्मा की यह अनित्यता व्यावहारिक–दृष्टि से है, बद्धात्मा में पर्याय–परिवर्तन के कारण अनित्यत्व का गुण भी रहता है।

(3) कूटस्थता– स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा कर्त्ता या भोक्ता अथवा परिणमनशील नहीं है।

(4) परिणामीपन या कर्त्तृत्व– सभी बद्धात्माएँ कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता हैं। यह एक आकस्मिक गुण है, जो कर्म–पुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होता है।

(5–6) सूक्ष्मता तथा विभुता– आत्मा संकोची एवं विकासशील है। आत्म–प्रदेश घनीभूत होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि आगमिक–दृष्टि से एक सूचिकाग्र भाग पर असंख्य आत्मा सशरीर निवास करती हैं। तलवार की सूक्ष्म तीक्ष्ण धार भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के शरीर तक को नष्ट नहीं कर सकती। विभुता की दृष्टि से एक ही आत्मा के प्रदेश यदि प्रसारित हों, तो समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि महावीर का आत्मवाद तत्कालीन विभिन्न आत्मवादों का सुन्दर समन्वय है। यही नहीं, वरन् वह समन्वय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सभी प्रकार की आत्मवादी–धाराएं अपने–अपने दोषों से मुक्त हो–होकर यहाँ आकर मिल जाती हैं।

हेमचन्द्र इस समन्वय की औचित्यता को एक सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं –

गुडो हि कफ हेतुःस्यात् नागरं पित्तकारण्म।
द्वयात्मनि न दोषोस्ति गुडनागरभेषजे ।।

जिस प्रकार गुड़ कफजनक और सौंठ पित्तजनक है, लेकिन दोनों के समन्वय में यह दोष नहीं रहते, इसी प्रकार से विभिन्न आत्मवाद पृथक्–पृथक् रूप से नैतिक अथवा दार्शनिक दोषों से ग्रस्त हैं, लेकिन महावीर द्वारा किये गये इस समन्वय में वे सभी अपने–अपने दोषों से मुक्त हो जाते हैं। यही महावीर के आत्मवाद की औचित्यता है। यही उनका

वैशिष्ट्य है।

द्रव्य, गुण एवं पर्याय और उनका सह सम्बन्ध

द्रव्य की परिभाषा : जैन–परम्परा में सत् को द्रव्य का लक्षण माना गया है, फिर भी उसमें सत् के स्थान पर 'द्रव्य' ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर 'अस्तिकाय' और 'द्रव्य'– इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय हैं, वे द्रव्य ही हैं। सर्वप्रथम द्रव्य की परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र में है। उसमें 'गुणानां आसवो दव्वो' (28/6) कहकर गुणों के आश्रय–स्थल को द्रव्य कहा गया है। इस परिभाषा में द्रव्य का सम्बन्ध गुणों से माना गया है, किन्तु इसके पूर्व गाथा में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय–सभी को जाननेवाला ज्ञान है (उत्तराध्ययनसूत्र 28/5)। उसमें यह भी माना गया है कि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं और पर्याय गुण और द्रव्य–दोनों के आश्रित रहती है। इस परिभाषा का तुलनात्मक–दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय में आश्रय–आश्रयी–सम्बन्ध माना गया है। यह परिभाषा भेदवादी न्याय और वैशेषिक–दर्शन के निकट है। द्रव्य की दूसरी परिभाषा 'गुणानां समूहो दव्वो' के रूप में भी की गयी है। इस परिभाषा का समर्थन तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका (2/2/पृ. 267/4) में आचार्य पूज्यपाद ने किया है। इसमें द्रव्य को 'गुणों का समुदाय' कहा गया है। जहाँ प्रथम परिभाषा द्रव्य और गुण में आश्रय–आश्रयी–सम्बन्ध के द्वारा भेद का संकेत करती है, वहाँ यह दूसरी परिभाषा गुण और द्रव्य में अभेद स्थापित करती है। तुलनात्मक–दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रथम परिभाषा बौद्ध–परम्परा के द्रव्य–लक्षण के अधिक समीप प्रतीत होती है, क्योंकि दूसरी परिभाषा के अनुसार गुणों से पृथक् द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं माना गया। इस द्वितीय परिभाषा में गुणों के समुदाय या स्कन्ध को ही द्रव्य कहा गया है। यह परिभाषा गुणों से पृथक् द्रव्य की सत्ता न मानकर गुणों के समुदाय को ही द्रव्य मान लेती है। इस प्रकार, यद्यपि ये दोनों ही परिभाषाएं जैन–चिन्तन–धारा में ही विकसित हैं, किन्तु एक पर वैशेषिक–दर्शन का और दूसरी पर बौद्धदर्शन का प्रभाव है। ये दोनों परिभाषाएं जैनदर्शन की

अनैकान्तिक–दृष्टि का पूर्ण परिचय नहीं देतीं, क्योंकि एक में द्रव्य और गुण में भेद माना गया है, तो दूसरी में अभेद, जबकि जैन–दृष्टिकोण भेद–अभेदमूलक है। उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में 'सत् द्रव्य लक्षणम्'(5/29) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण माना है, जो अस्तित्वरूप है। जो अस्तित्त्ववान् है, वही द्रव्य है। इसी आधार पर यह कहा गया है कि जो त्रिकाल में अपने स्वभाव का परित्याग न करे, उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। तत्त्वार्थसूत्र (5/29) में उमास्वाति ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया, तो दूसरी ओर, सत् को उत्पाद–व्यय–धौव्यात्मक बताया, अतः द्रव्य को भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है, साथ ही, उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (5/38) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य कुंदकुंद ने 'पंचास्तिकायसार' और 'प्रवचनसार' में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य को परिभाषित किया है। 'पंचास्तिकायसार' (10) में वे कहते है– "द्रव्य सत् लक्षण वाला है।" इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार (95–96) में वे कहते हैं– "जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा गुण पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है।" इस प्रकार, कुंदकुंद ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वाति के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति की विशेषता यह है कि उन्होंने 'गुण पर्यायवत् द्रव्यम्' कहकर जैनदर्शन के भेद–अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिक–सूत्र के द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं स सत्ता (1/2/8) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैनदर्शन से सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। परिणमन– यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है, किन्तु इसकी प्रक्रिया में द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता है। स्व–स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने के कारण ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है, किन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य

कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि मृत्तिका अपने स्व–जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड का विनाश होता है। जब तक पिण्ड विनष्ट नहीं होता, तब तक घट उत्पन्न नहीं होता, किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका–लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः, कोई भी द्रव्य अपने स्व–लक्षण, स्व–स्वभाव अथवा स्व–जातीय धर्म का परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व–लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व–लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। यह स्व–लक्षण ही वस्तु का नित्य–पक्ष होता है। स्व–लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वह पर्याय कहलाती हैं। परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य–पक्ष है।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व–लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, जीवद्रव्य अपने चैतन्य–गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु अपने चेतना–लक्षण का परित्याग किये बिना वह देव, मनुष्य, पशु– इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता, वे ही गुण वस्तु के स्व–लक्षण कहे जाते हैं। जिन गुणों अथवा अवस्थाओं का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयी हैं– 1. स्वभाव–पर्याय और 2. विभाव–पर्याय। जो पर्याय या अवस्थाएं स्व–लक्षण के निमित्त से होती हैं, वे स्वभाव–पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं, वे विभाव–पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में, ज्ञान और दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थाएं आत्मा की स्वभाव–पर्याय हैं, क्योंकि वे आत्मा के स्व–लक्षण 'उपयोग' से फलित होती हैं, जबकि क्रोध आदि कषाय भावकर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होते हैं, अतः वे विभाव–पर्याय हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य गुण और पर्यायों से

अभिन्न हैं, वे परस्पर सापेक्ष हैं।

गुण का स्वरूप एवं परिभाषा

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय स्थल माना गया है। वस्तुतः, गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व–लक्षण होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणाः' (5/40) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं– यह परिभाषा सामान्यतया आत्म–विरोधी–सी लगती है, किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण के भी गुण मानेंगे, तो अनावस्था–दोष होगा। गुण द्रव्य का स्व–लक्षण है, जबकि पर्याय द्रव्य का विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है, वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी विशेषताओं का सूचक है।

वे विशेषताएँ या लक्षण, जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है, वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में, धर्म–द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है, अधर्म–द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है, उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार, परिवर्तन काल का लक्षण है और उपयोग (चेतना) जीव का लक्षण है। अतः, गुण वे हैं, जिनके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं, वे ही उसके गुण हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (28/11–12) में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग–ये छह जीव के लक्षण बताये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अंधकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग–अलग माने गये हैं, लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से वे पृथक्–पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के संदर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं, जो कुछ ही द्रव्यों में पाए जाते हैं। चेतना आदि कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो केवल जीवद्रव्य में पाये जाते हैं, अजीवद्रव्य में उनका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में, कुछ गुण सामान्य

और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है, वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जबकि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभागी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं, इसीलिए जैनदर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। गुणों के सम्बन्ध में एक अन्य विशेषता यह है कि वे द्रव्य–विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं।

द्रव्य और गुण का भेदाभेद

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक–स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है, न द्रव्य से रहित गुण की, अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक–स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र (5/40) में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "स्व–गुण को छोड़कर जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है, वही गुण है।"

द्रव्य और गुण के पारस्परिक–सम्बन्ध को लेकर जैन–परम्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम–ग्रंथों में द्रव्य और गुण में आश्रय–आश्रयी– भाव माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र (28/6) में द्रव्य को गुण का आश्रय–स्थान माना गया है। उत्तराध्ययन–सूत्रकार के अनुसार, गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय–स्थल है, किन्तु यहाँ यह आपत्ति हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न–भिन्न सत्ता ही नहीं है, तो उनमें आश्रय–आश्रयी–भाव किस प्रकार होगा? वस्तुतः, द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया यह विवेचन मूलतः वैशेषिक–परम्परा के प्रभाव का परिणाम है। जैनों के अनुसार, सिद्धान्ततः आश्रय–आश्रयी–भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है, जो एक–दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर

पूज्यपाद आदि कुछ आचार्यों ने 'गुणाणां समूहो दव्वो' अथवा 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति' कहकर के द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग–अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह दृष्टिकोण बौद्ध–अवधारणा से प्रभावित है। यह संघातवाद का ही अन्य रूप है, जबकि जैन–परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः, द्रव्य के साथ गुण और पर्याय के सम्बन्ध को लेकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है, वही अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार, जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक–स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न है और उस दृष्टि से उनमें आश्रय–आश्रयी–भाव भी देखा जाता है, किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक–दूसरे से पृथक् (विविक्त) सत्ताएँ नहीं हैं, अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार, गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य–सम्बन्ध ा है। डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैन–दर्शन (पृ. 144) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वे द्रव्य से अभिन्न हैं, किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। "एक ही पुद्गल–परमाणु में युगपद् रूप, रस, गंध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर रूप, रस, गंध आदि पृथक्–पृथक् गुण हैं, अतः वैचारिक–स्तर पर एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है, अपितु उस स्तर पर उन्हें द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः, गुण अपनी पूर्वपर्याय को छोड़कर उत्तरपर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है, किन्तु उसमें यह पर्याय–परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होने वाले परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य के ही परिवर्तन हैं। पर्याय और गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच जो एक पुद्गल–परमाणु के रूप, रस, गंध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं, गुणों के इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय भी बदलती रहती है, किन्तु इन परिवर्तित होने वाले गुणों और पर्यायों के बीच भी एक तत्त्व है, जो इन परिवर्तनों के बीच भी बना रहता है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविक गुण कृत और

वैभाविक गुण कृत अर्थात् पर्यायजन्य उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है, इसलिए द्रव्य को उत्पाद–व्यय और ध्रौव्यात्मकता कहा गया है। द्रव्य के साथ–साथ उसके गुणों को भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ–साथ उसके गुणों में भी उत्पाद–व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है, उससे पृथक् होने पर जीव जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अवस्थाएँ या अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, अतः गुणों में भी उत्पाद–व्यय होता रहता है। पुनः, वस्तु का स्व–लक्षण कभी बदलता नहीं है, अतः गुण में ध्रौव्यत्व–पक्ष भी है, अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–लक्षण युक्त है।

गुणों के प्रकार

जैनदर्शन में सत्ता को अनन्त–धर्मात्मक (अनन्त गुणात्मक) माना गया है। वस्तु के गुणधर्म दो प्रकार के हैं– भावात्मक–गुणधर्म और अभावात्मक–गुणधर्म। भावात्मक (विधायक) गुणधर्मों की अपेक्षा भी अभावात्मक गुणधर्मों का अभावरूप होना भी आवश्यक है। एक मनुष्य को वही होने के लिए उसका चराचर विश्व की अनन्त वस्तुओं एवं व्यक्तियों से भिन्न होना अर्थात् उसमें उनका अभाव होना आवश्यक है। स्थूल उदाहरण के लिए 'सागरमल' को सागरमल होने के लिए स्थूल–जगत् के 6 अरब *व्यक्तियों से, असंख्यात् कीट–पतंगों से लेकर पशुओं से तथा विश्व की* अनन्त जड़ वस्तुओं से भिन्न होना आवश्यक है, अर्थात् उनके विशिष्ट गुणधर्मो का उसमें अभाव होना भी आवश्यक है। कुछ सामान्य गुणों की अपेक्षा भी विशिष्ट गुणधर्म तो अनेक होते ही हैं। इसी दृष्टि से जैनधर्म में वस्तु को अनन्त–धर्मात्मक कहा गया है, दूसरे, व्यक्त गुणों की अपेक्षा से भी अव्यक्त या गौण गुणधर्म कहीं अधिक होते हैं। एक कच्चे आम्रफल में सफेद और हरे रंग, खट्टे स्वादरूप व्यक्त गुणों की अपेक्षा भी अव्यक्त–गुणों की दृष्टि से पाँचों वर्ण, दोनों गंध, पॉचों स्वाद, आठों स्पर्श आदि भी व्यक्त रूप से रहे हुए हैं। भावात्मक और अभावात्मक तथा व्यक्त और अव्यक्त–गुणधर्मों की चर्चा के अतिरिक्त भी अनेक अज्ञात गुणधर्मों की संख्या का निर्धारण तो अति कठिन है, फिर भी सामान्य और विशेष

गुणधर्मों की अपेक्षा से जैन-ग्रन्थों में षट्द्रव्यों के कुछ विशिष्ट गुणधर्मों की चर्चा भी मिलती है। अस्तित्व ऐसा गुण है, जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है। विस्तार नामक गुणधर्म कालद्रव्य और परमाणु को छोड़कर शेष सभी में पाया जाता है। चेतना नामक गुणधर्म जीवद्रव्य या जीवों में तथा जड़ता नामक गुणधर्म जीव को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्यों में पाया जाता है। गति में सहायक होना धर्म-द्रव्य का गुण है और स्थिति में सहायक होना अधर्मद्रव्य का गुण है। काल का सामान्य गुण परिवर्तनशीलता है- परत्व और अपरत्व, अल्पवयस्क-दीर्घवयस्क, (छोटा-बड़ा) नया-पुराना आदि काल के गुण हैं। उत्तराध्ययन में पुद्गल के विशिष्ट गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है- पाँच वर्ण, पाँच स्वाद, दो गंध, आठ स्पर्श, शब्द, अंधकार, प्रकाश, आतप, छाया आदि पुद्गल के गुण हैं।

(क) पर्याय

जैन-दार्शनिकों के अनुसार, द्रव्य में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। वह अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है, इन्हें ही पर्याय कहा जाता है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रति क्षण जलने वाला तेल बदलता रहता है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत रूप से परिवर्तन या परिणमन को प्राप्त होता रहता है। द्रव्य में होने वाला यह परिवर्तन या परिणमन ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है, बालक से किशोर और किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु-काल तक प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक-संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक-संरचना में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रति क्षण होने वाले इन परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएं प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि 'पर्याय' जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय की यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था

और युवावस्था से वृद्धावस्था की यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है, जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है, बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होती रहती है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होने वाला परिवर्तन ही पर्याय है। पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था–विशेष है। दार्शनिक–जगत् में पर्याय का जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है, उससे आगम में वह किंचित् भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। दार्शनिक–ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगमों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम–साहित्य में पर्याय का निरूपण द्रव्य के क्रमभावी परिणमन के रूप में नहीं हुआ है। आगमों में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं में प्राप्त होता है, उन्हें ही उस पदार्थ की पर्याय कहा गया है, जैसे–जीव की पर्याय है–नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच, सिद्ध आदि।

पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्याय का उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र में इस प्रकार हुआ है–'एक–गुण काला, द्विगुण काला यावत् अनन्तगुण काला।'' काले गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। इसी प्रकार, नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्यायें भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्तगुण तक पर्याय होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है। एक पर्याय का दूसरे पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक–दूसरे से पृथक् होती हैं। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार, संस्थान अर्थात् आकृति की दृष्टि से भी पर्याय–भेद होता है। पर्याय का संयोग या वियोग (विनाश) भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता, किन्तु पर्यायें स्थिर भी नहीं रहती हैं, वे प्रति समय परिवर्तित होती रहती हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्याय परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया

है। द्रव्य में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तरपर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसमें आश्रित या घटित होती हैं, या जिसमें पर्यायें परिवर्तित होती हैं, वही द्रव्य है। जैनदर्शन के अनुसार, द्रव्य और पर्याय में कथचित् तादात्म्य इस अर्थ में है कि पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है और न द्रव्य से पृथक् होकर पर्यायों का ही कोई अस्तित्व होता है। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग–अलग सत्ताएँ नहीं हैं, वे तत्त्वतः अभिन्न हैं, किन्तु वैचारिक–स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है। क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जबकि द्रव्य बना रहता है, अतः वे द्रव्य से भिन्न भी हैं। जैन–आचार्यों के अनुसार, द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित्– अभिन्नता और कथंचित्–भिन्नता वस्तु के अनेकांतिक स्वरूप की परिचायक हैं।

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक–आधारों पर चर्चा करते हुए द्रव्यानुयोग (पृ.38) में उपाध्याय श्री कन्हैयालालजी म.सा. 'कमल' लिखते हैं कि प्रज्ञापनासूत्र में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं–1. जीव–पर्याय और 2. अजीव–पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। जीव–पर्याय किस प्रकार अनन्त होती हैं, इसका समाधान करते हुए पूर्व में कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंचयोनिक और मनुष्य से सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव–पर्यायें अनन्त हैं। इसी प्रकार, अजीव पुद्गल आदि रूप हैं, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर इनके भी अनेक अवान्तर–भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें होती हैं, जिनका विस्तृत विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के पर्याय–पद में किया गया है। पर्यायों के

अन्य भेद इस प्रकार हैं–

(ख) अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय

पुनः, पर्याय दो प्रकार की होती हैं– 1. अर्थपर्याय और 2. व्यंजनपर्याय। एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों की जो पर्यायें होती हैं, उन्हें व्यंजनपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय सूक्ष्म एवं व्यंजनपर्याय स्थूल होती हैं। ज्ञातव्य है कि धवला (4/1/504/337/6) में द्रव्यपर्याय को ही व्यंजनपर्याय कहा गया है और गुणपर्याय को ही अर्थपर्याय भी कहा गया है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यंजनपर्याय ही द्रव्यपर्याय और अर्थपर्याय ही गुणपर्याय हैं, तो फिर इन्हें पृथक्–पृथक् क्यों बताया गया है; इसका उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यंजनपर्याय चिरकालिक भी होती है, जैसे जीव की चेतन पर्यायें सदैव बनी रहती हैं, चाहे चेतन अवस्थाएँ बदलती रहें, इसके विपरीत, अर्थपर्यायें गुणों और उनके अनेक अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती हैं। व्यंजनपर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना–पर्यायें, जो सभी जीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं। वे द्रव्य की सहभावी पर्यायें हैं और अर्थपर्याय विशेष हैं, जैसे किसी व्यक्ति–विशेष की काल–विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएँ। अर्थपर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल–क्रम में घटित होती रहती हैं, अतः कालकृत भेद के आधार पर उन्हें द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय से पृथक् कहा गया है।

(ग) ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय

पर्याय को ऊर्ध्व–पर्याय एवं तिर्यक्–पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे– भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं, वे तिर्यक्–पर्याय कही जाती हैं, जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रतिक्षण होने वाले पर्याय–परिणमन को उर्ध्व–पर्याय कहा जाता है। तिर्यक्–अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व–पर्याय–भेद में अभेद ग्राही है। यद्यपि पर्याय कही जाती हैं, जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रतिक्षण होने वाले

पर्याय-परिणमन को ऊर्ध्वपर्याय-दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा- भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में, तिर्यक् द्रव्य-सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्वपर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभावपर्याय और विभावपर्याय

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्याय उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव-पर्याय कही जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव-पर्याय होती हैं, जैसे- कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषायरूप परिणमन हैं, वे विभाव-पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता-दृष्टा भाव स्वभाव-पर्याय हैं। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव-पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि पुद्गल की स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव-पर्याय नहीं है, क्योंकि ये स्वभावतः निष्क्रिय द्रव्य हैं। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश की विभाव-पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्डद्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ.) सजातीय और विजातीय द्रव्यपर्याय

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती हैं, वे सजातीय द्रव्यपर्याय हैं, जैसे-समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि-आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय हैं।

(च) कारण-शुद्ध-पर्याय और कार्य-शुद्ध-पर्याय

स्वभावपर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं- कारण-शुद्ध-पर्याय और कार्य-शुद्ध-पर्याय। पर्यायों में परस्पर कारण-कार्य-भाव होता है। जो स्वभाव-पर्याय कारणरूप होती हैं, वे कारण-शुद्ध-पर्याय हैं और जो स्वभाव- पर्याय कार्य-रूप होती हैं, वे कार्य-शुद्ध-पर्याय हैं, किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप में समझना चाहिए, क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है।

इसी क्रम में, विभाव पर्यायों को भी कार्य-अशुद्ध-पर्याय या कारण-अशुद्ध- पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी–पर्याय और क्रमभावी–पर्याय

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी–पर्याय कही जाती हैं, जैसे पुद्गल–द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि–रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है, वे क्रम–भावी पर्याय हैं, जैसे–बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य–पर्याय और विशेष–पर्याय

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं, किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं, उन्हें सामान्य–पर्याय भी कहा जा सकता है, जैसे–अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना ।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों की अपेक्षा से भेद होता है, अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश काला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं, जबकि गुणात्मक–दृष्टि से काला, लाल, श्वेत आदि अथवा खट्टा, मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक, देवता आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिभासिक मानते हैं। उनका कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है; ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है, अर्थात् जो परिवर्तनशील हैं, वे सत् नहीं हैं, मात्र प्रतिभास हैं। उनके अनुसार, परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुतः उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है, अतः वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती है, तो उनसे हमें जो संवेदना होती, वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी

प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग–अन्धता होती, तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत–श्याम–रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता, लालादि रंगों के अस्तित्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति हैं, वास्तविक नहीं, अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण और पर्याय भी मात्र प्रतिभास हैं, चित्त–विकल्प हैं, वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु, जैन–दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों के समान ही द्रव्य के साथ–साथ गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार, प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं, जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश–कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का चैत्तसिक–स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके चैतसिक–स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं, जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अतः, अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती है। जैनों के अनुसार, अनुभूति का प्रत्येक विषय अपनी वास्तविक सत्ता रखता है। इससे न केवल द्रव्य, अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक सिद्ध होते हैं। द्रव्य, गुण एवं पर्याय की सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन–आचार्यों ने सत्ता को अस्तिकाय कहा था, अतः उत्पाद–व्यय–धर्मा होकर भी पर्यायें प्रतिभास न होकर वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय और पुरुषार्थ

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्वपूर्ण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं– यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि पर्यायों के होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, तो फिर पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैनदर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायों को

जानता है, तो फिर इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, अर्थात् भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की संभावना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय–परिणमन होना है, वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध में व्यर्थ के संकल्प–विकल्प से मुक्त रहकर समभाव में रह सकता है; दूसरे, उसमें कर्त्तव्य का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है, किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति के पास अपने भविष्य को संवारने हेतु प्रयत्नों का अवकाश भी नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है, अतः इसमें नैतिक–उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा–शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है, तो उसे किसी भी अच्छे–बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त के आधार पर पुरुषार्थ की संभावना से इन्कार नहीं करते हैं, किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ भी 'नियत' है, किन्तु नियत पुरुषार्थ वस्तुतः पुरुषार्थ नहीं होता है। जैन–कर्मसिद्धान्त के अनुसार, अपने पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता में रसघात, स्थितिघात अथवा अपवर्तन एवं उत्वर्तन होता है। अतः, पर्यायें क्रमबद्ध होते हुए भी पूर्व नियत नहीं हैं, साथ ही वे पुरुषार्थ की अवरोधक भी नहीं हैं। वे पुरुषार्थ का ही एक रूप हैं।

जीव–तत्त्व

आत्मा या जीवतत्त्व को पंच अस्तिकाय, षट्द्रव्य और नवतत्त्व– इन तीनों वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है । जीव का लक्षण उपयोग या चेतना माना गया है, इसीलिए इसे चेतन–द्रव्य भी कहा जाता है। उपयोग या चेतना के दो प्रकारों की चर्चा आगमों में भी मिलती है– निराकार–उपयोग और साकार–उपयोग। इन दोनों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान भी कहा जाता है। निराकार–उपयोग, वस्तु के सामान्य स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, दर्शन कहा जाता है और साकार– उपयोग, वस्तु के विशिष्ट

स्वरूप का ग्रहण करने के कारण, ज्ञान कहा जाता है। जीवद्रव्य के सन्दर्भ में जैन–दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीवद्रव्य को एक अखण्ड द्रव्य न मानकर अनेक द्रव्य मानता है। उसके अनुसार, प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता है और विश्व में जीवों की संख्या अनन्त है। इस प्रकार, संक्षेप में जीव अस्तिकाय, चेतन, अरूपी और अनेक–रूप द्रव्य है और इसका लक्षण उपयोग या चेतना है।

जीव को जैन–दर्शन में आत्मा भी कहा गया है, अतः यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है–

आत्मा का अस्तित्व

जैन–दर्शन में जीव या आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना गया है। जहाँ तक हमारे आध्यात्मिक–जीवन का प्रश्न है, आत्मा के अस्तित्व पर शंका करके आगे बढ़ना असम्भव है। जैन–दर्शन में आध्यात्मिक–विकास की पहली शर्त आत्म–विश्वास है। विशेषावश्यकभाष्य के गणधरवाद में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये हैं–

(1) जीव का अस्तित्व जीव शब्द से ही सिद्ध है, क्योंकि असद् वस्तु की कोई सार्थक संज्ञा ही नहीं बनती है। (1575)

(2) जीव है या नहीं– यह सोचना मात्र ही किसी विचारशील सत्ता अर्थात् जीव की सत्ता को सिद्ध कर देता है। देवदत्त जैसा सचेतन प्राणी ही यह सोच सकता है कि वह स्तम्भ है या पुरुष है। (1571)

(3) शरीर में स्थित जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूँ, वही तो जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्त्ता अन्य कोई नहीं है। यदि आत्मा ही न हो, तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव ही कैसे हो कि मैं हूँ या नहीं? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। संशय के लिए किसी ऐसे तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता है, जो उस विचार का आधार हो। बिना अधिष्ठान के कोई विचार या चिन्तन सम्भव नहीं हो सकता। संशय का अधिष्ठान कोई–न–कोई अवश्य होना चाहिए। महावीर गौतम से कहते हैं– हे गौतम! यदि कोई संशयकर्त्ता ही नहीं है, तो 'मैं हूँ', या 'नहीं हूँ'– यह

संशय कहाँ से उत्पन्न होता है? तुम स्वयं अपने ही विषय में सन्देह कैसे कर सकते हो? फिर किसमें संशय न होगा? क्योंकि संशय आदि जितनी भी मानसिक और बौद्धिक–क्रियाएँ हैं, वे सब आत्मा के कारण ही हैं। जहाँ संशय होता है, वहाँ आत्मा का अस्तित्व अवश्य स्वीकारना पड़ता है। वस्तुतः, जो प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि उसी के आधार पर संशयादि उत्पन्न होते हैं, सुख–दुःखादि को सिद्ध करने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं (जैनदर्शन–महेन्द्रकुमार, पृष्ठ 4)। ये संशय, विचारणा आदि सब आत्मपूर्वक ही हो सकते हैं। आचारांगसूत्र (1/5/5/166) में कहा गया है कि जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मा है।

आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य (3/1/7) में ऐसे ही तर्क देते हुए कहते हैं कि जो निरसन कर रहा है, वही तो उसका स्वरूप है। आत्मा के अस्तित्व के लिए स्वतःबोध को आचार्य शंकर भी एक प्रबल तर्क के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि सभी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, कोई भी ऐसा नहीं है, जो यह सोचता हो कि 'मैं नहीं हूँ' (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/1/2)। अन्यत्र, शंकर स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि बोध से सत्ता को और सत्ता से बोध को पृथक् नहीं किया जा सकता (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य 3/2/21)। यदि हमें आत्मा का स्वतः बोध होता है, तो उसकी सत्ता निर्विवाद है।

पाश्चात्य–विचारक देकार्त ने भी इसी तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है। वह कहता है कि सभी के अस्तित्व में सन्देह किया जा सकता है, परन्तु सन्देहकर्त्ता में सन्देह करना तो सम्भव नहीं है, सन्देहकर्त्ता का अस्तित्व सन्देह से परे है। सन्देह करना विचार करना है और विचारक के अभाव में विचार नहीं हो सकता । मैं विचार करता हूँ, अतः 'मैं हूँ'– इस प्रकार देकार्त के अनुसार भी आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है (पश्चिमीदर्शन–दीवानचंद, पृ. 106)।

(4) आत्मा अमूर्त्त है, अतः उसको उस रूप में तो नहीं जान सकते, जैसे घट, पट आदि वस्तुओं का इन्द्रिय–प्रत्यक्ष के रूप में ज्ञान होता है,

लेकिन इतने मात्र से उनका निषेध नहीं किया जा सकता। जैन आचार्यों ने इसके लिए गुण और गुणी का तर्क दिया है। घट आदि जिन वस्तुओं को हम् जानते हैं, उनका भी यथार्थ बोध-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि हमें जिनका बोध या प्रत्यक्ष होता है, वह घट के रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष हैं, लेकिन घट मात्र रूप नहीं है, वह तो अनेक गुणों का समूह है, जिन्हें हम पूर्णतः नहीं जानते, रूप (आकार) तो उनमें से एक गुण है। जब रूपगुण के प्रत्यक्षीकरण को घट का प्रत्यक्षीकरण मान लेते हैं और हमें कोई संशय नहीं होता, तो फिर ज्ञान-गुण से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते **(विशेषावश्यकभाष्य 1558)।**

आधुनिक वैज्ञानिक भी अनेक तत्त्वों का वास्तविक बोध-प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, जैसे ईथर; फिर भी कार्यों के आधार पर उनका अस्तित्व मानते हैं एवं स्वरूप-विवेचन भी करते हैं, फिर आत्मा के कार्यों के आधार पर उसके अस्तित्व को क्यों न स्वीकार किया जाए? वस्तुतः, आत्मा या चेतना के अस्तित्व का प्रश्न महत्वपूर्ण होते हुए भी विवाद का विषय नहीं है। भारतीय-चिन्तकों में चार्वाक तथा पाश्चात्य-चिन्तकों में ह्यूम आदि जो विचारक आत्मा का निषेध करते हैं, वस्तुतः, उनका निषेध आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं, वरन् उसकी नित्यता का निषेध है। वे आत्मा को एक स्वतंत्र या नित्य-द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन चेतन-अवस्था या चेतना-प्रवाह के रूप में आत्मा का अस्तित्व तो उन्हें भी स्वीकार है। चार्वाक-दर्शन भी यह नहीं कहता कि आत्मा का सर्वथा अभाव है। उसका निषेध मात्र आत्मा को स्वतन्त्र या मौलिक तत्त्व मानने से है। बुद्ध अनात्मवाद की प्रतिस्थापना में आत्मा (चेतना) का निषेध नहीं करते हैं, वरन् उसकी नित्यता का निषेध करते हैं। ह्यूम भी अनुभूति से भिन्न किसी स्वतंत्र आत्मतत्त्व का ही निषेध करते हैं। .... 'न्यायवार्त्तिककार' का यह कहना समुचित जान पड़ता है कि आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिकों में सामान्यतः कोई विवाद ही नहीं है, यदि विवाद है, तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है न कि उसके अस्तित्व से। स्वरूप की दृष्टि से कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई विज्ञान-संघात को आत्मा समझता है।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्म–तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं (न्यायवात्तिर्क, पृ.366)। जैनदर्शन आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है।

आत्मा एक मौलिक तत्त्व

आत्मा एक मौलिक तत्त्व है अथवा अन्य किसी तत्त्व से उत्पन्न हुआ है, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि संसार आत्म और अनात्म का संयोग है, लेकिन इनमें मूल तत्त्व क्या है? यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में चार प्रमुख धारणाएँ हैं– (1) मूल तत्त्व जड़ (अचेतन) है और उसी से चेतन की उत्पत्ति होती है। अजितकेशकम्बलिन्, चार्वाक आदि दार्शनिक एवं भौतिकवादी–वैज्ञानिक इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (2) मूल तत्त्व चेतन या बोध है और उसी की अपेक्षा से जड़ की सत्ता मानी जा सकती है। बौद्ध– विज्ञानवाद, शांकर–वेदान्त तथा बर्कले इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (3) कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जिन्होंने परम तत्त्व को एक मानते हुए भी उसे जड़–चेतन उभयरूप स्वीकार किया और दोनों को ही उसका पर्याय माना। गीता, रामानुज और स्पिनोजा इस मत का प्रतिपादन करते हैं। (4) कुछ विचारक जड़ और चेतन– दोनों को ही परम तत्त्व मानते हैं और उनके स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सांख्य, जैन और देकार्त इस धारणा में विश्वास करते हैं।

जैन–विचारक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कभी भी जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। सूत्रकृतांग की टीका में इस मान्यता का निराकरण किया गया है। शीलांकाचार्य लिखते हैं कि 'भूत–समुदाय स्वतन्त्रधर्मी है, उसका गुण चैतन्य नहीं है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों के अन्य पृथक्–पृथक् गुण हैं, अन्य गुणों वाले पदार्थों से या उनके समूह से भी किसी अपूर्व (नवीन) गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जैसे रुक्ष बालु–कणों के समुदाय से स्निग्ध तेल की उत्पत्ति नहीं होती। अतः, चैतन्य आत्मा का ही गुण हो सकता है, भूतों का नहीं, जड़ भूतों से चेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती (सूत्रकृतांग टीका 1/1/8)।' शरीर भी ज्ञानादि चैतन्य गुणों का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर भौतिक–तत्त्वों का कार्य है और

भौतिक–तत्त्व चेतनाशून्य हैं। जब भूतों में ही चैतन्य नहीं है, तो उनके कार्य में चैतन्य कहां से आ जायेगा? प्रत्येक कार्य कारण में अव्यक्त रूप से रहा है। जब वह कारण कार्यरूप में परिणत होता है, तब वह शक्तिरूप से रहा हुआ कार्य व्यक्त रूप में सामने आ जाता है। जब भौतिक–तत्त्वों में चेतना नहीं है, तब यह कैसे सम्भव है कि शरीर चैतन्य–गुण वाला हो जाय? यदि चेतना प्रत्येक भौतिक– तत्त्व में नहीं है, तो उन तत्त्वों के संयोग से भी वह उत्पन्न नहीं हो सकती। रेणु के प्रत्येक कण में न रहने वाला तेल रेणु–कणों के संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः, यह कहना युक्ति–संगत नहीं है कि चैतन्य महाभूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है (जैनदर्शन–महेन्द्रकुमार, पृ.157)। गीता भी कहती है कि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता है (2/16)। यदि चैतन्य भूतों में नहीं है, तो वह उनके संयोग से निर्मित शरीर में भी नहीं हो सकता। शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होती है; अतः उसका आधार शरीर नहीं, आत्मा है। आत्मा की जड़ से भिन्नता सिद्ध करने के लिए शीलांकाचार्य एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– "पाँचों इन्द्रियों के विषय अलग–अलग हैं, प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ज्ञान करती है, जबकि पाँचों इन्द्रियों के विषयों का एकत्रीभूत रूप में ज्ञान करने वाला अन्य कोई अवश्य है और वह आत्मा है (सूत्रकृतांग टीका–1/1/8)।"

इसी सम्बन्ध में आचार्य शंकर की भी एक युक्ति है, जिसके सम्बन्ध में प्रो. ए.सी. मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'नेचर ऑफ सेल्फ' में काफी प्रकाश डाला है। शंकर पूछते हैं कि भौतिकवादियों के अनुसार भूतों से उत्पन्न होने वाली उस चेतना का स्वरूप क्या है? उनके अनुसार, या तो चेतना उन तत्त्वों की प्रत्यक्षकर्त्ता होगी या उनका ही एक गुण होगी। प्रथम स्थिति में यदि वह चेतना उन गुणों की प्रत्यक्षकर्त्ता होगी, तो वह उनसे प्रत्युत्पन्न नहीं होगी। दूसरे, यह कहना भी हास्यास्पद होगा कि भौतिक–गुण अपने ही को ज्ञान की विषय–वस्तु बनाते हैं। यह मानना कि चेतना, जो भौतिक–पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाती है, उतना ही हास्यास्पद है, जितना यह मानना कि आग अपने को ही जलाती है अथवा नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। इस प्रकार, शंकर का भी निष्कर्ष यही है कि

चेतन (आत्मा) भौतिक–तत्त्वों से व्यतिरिक्त और ज्ञानस्वरूप है।

आक्षेप एवं निराकरण

सामान्य रूप से जैन विचारणा में आत्मा या जीव को अपौद्गलिक, विशुद्ध चैतन्य एवं जड़ से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व या द्रव्य माना जाता है, लेकिन अन्य दार्शनिकों का आक्षेप है कि जैन–दर्शन के विचार में जीव का स्वरूप बहुत कुछ पौद्गलिक बन गया है। यह आक्षेप अजैन–दार्शनिकों का ही नहीं, अनेक जैन– चिन्तकों का भी है और उनके लिए आगमिक–आधारों पर कुछ तर्क भी प्रस्तुत किये गये हैं। पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने इस विषय में एक प्रश्नावली भी प्रस्तुत की थी (अनेकांत, जून 1942)। यहाँ उस प्रश्नावली के कुछ प्रमुख मुद्दों पर ही चर्चा करना अपेक्षित है, जो जीव–सम्बन्धी जैन दार्शनिक–मान्यताओं में ही पारस्परिक–अन्तर्विरोध प्रकट करते हैं–

(1) जीव यदि पौद्गलिक नहीं है, तो उसमें सौक्ष्म्य–स्थौल्य अथवा संकोच–विस्तार की क्रिया और प्रदेश–परिस्पन्दन कैसे बन सकता है? जैन– विचारणा के अनुसार तो सौक्ष्म्य–स्थौल्य को पुद्गल की पर्याय माना गया है।

(2) जीव के अपौद्गलिक होने पर आत्मा में पदार्थों का प्रतिबिम्बित होना भी कैसे बन सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब का ग्राहक पुद्गल ही होता है। जैन– विचारणा में ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से ही मानी गयी है।

(3) अपौद्गलिक और अमूर्त्तिक–आत्मा पौद्गलिक एवं मूर्त्तिक–कर्मों के साथ बद्ध होकर विकारी होना कैसे सम्भव हो सकता है? (इस प्रकार के बन्ध का कोई दृष्टान्त भी उपलब्ध नहीं है) स्वर्ण और पाषाण के अनादिबन्ध का जो दृष्टान्त भी दिया जाता है, वह विषम दृष्टान्त है और एक प्रकार से तो वह जीव का पौद्गलिक होना ही सूचित करता है।

(4) रागादिक को पौद्गलिक कहा गया है और रागादिक जीव के परिणाम हैं– बिना जीव के उनका अस्तित्व नहीं। (यदि जीव पौंद्गलिक नहीं है, तो रागादि भाव पौद्गलिक कैसे सिद्ध हो सकेंगे?) इसके सिवाय

पौद्गलिक– जीवात्मा में कृष्ण, नीलादि लेश्याएँ कैसे बन सकती हैं?

जैन–दर्शन जड़ और चेतन के द्वैत को और उनकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। वह सभी प्रकार के अद्वैतवाद का विरोध करता है, चाहे वह शंकर का आध्यात्मिक–अद्वैतवाद हो, अथवा चार्वाक एवं अन्य वैज्ञानिकों का भौतिकवादी–अद्वैतवाद हो, लेकिन इस सैद्धान्तिक–मान्यता से उपर्युक्त शंकाओं का समाधान नहीं होता। इसके लिए हमें जीव के स्वरूप को उस सन्दर्भ में देखना होगा, जिसमें उपर्युक्त शंकाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथमतः, संकोच–विस्तार तथा उसके आधार पर होने वाले सौक्ष्म्य एवं स्थौल्य तथा बन्धन और रागादिभाव का होना सभी बद्ध जीवात्माओं या हमारे वर्त्तमान सीमित व्यक्तित्व के कारण है। जहाँ तक सीमित व्यक्तित्व या बद्ध जीवात्मा का प्रश्न है, वह एकान्त रूप से न तो भौतिक हैं और न अभौतिक। जैन–चिन्तक मुनि नथमलजी (महाप्रज्ञजी) इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए लिखते हैं कि 'मेरी मान्यता यह है कि हमारा वर्त्तमान व्यक्तित्व न सर्वथा पौद्गलिक है और न सर्वथा अपौद्गलिक। यदि उसे सर्वथा अपौद्गलिक मानें, तो उसमें संकोच–विस्तार, प्रकाशमय, अनुभव, ऊर्ध्वगामीधर्मिता, रागादि नहीं हो सकते। मैं जहाँ तक समझ सकता हूँ, कोई भी शरीरधारी जीव अपौद्गलिक नहीं है। जैन–आचार्यों ने उसी में संकोच–विस्तार या बन्धन आदि माने हैं, अपौद्गलिकता उसकी अन्तिम परिणति है, जो शरीर–मुक्ति से पहले कभी प्राप्त नहीं होती (तट दो प्रवाह एक, पृ.54)।' मुनिजी के इस कथन को अधिक स्पष्ट रूप में यों कहा जा सकता है कि जीव के अपौद्गलिक–स्वरूप उसकी उपलब्धि नही, आदर्श हैं। जैन–दर्शन का लक्ष्य इसी अपौद्गलिक–स्वरूप की उपलब्धि है। जीव की अपौद्गलिकता उसका आदर्श है, जागतिक् तथ्य नहीं, जबकि ये सभी बातें बद्ध जीवों में ही पायी जाती हैं।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

महावीर के सम्मुख जब यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि "भगवान्! जीव वही है, जो शरीर है, या जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है?" तब महावीर ने उत्तर दिया– "हे गौतम! जीव शरीर भी है और

शरीर से भिन्न भी है (भगवतीसूत्र 13/7/495)।" इस प्रकार, महावीर ने आत्मा और देह के मध्य भिन्नत्व और एकत्व– दोनों को स्वीकार किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा और शरीर के एकत्व और भिन्नत्व को लेकर यही विचार प्रकट किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि व्यावहारिक–दृष्टि से आत्मा और देह एक ही हैं, लेकिन निश्चय–दृष्टि से आत्मा और देह कदापि एक नहीं हो सकते (समयसार 27)। वस्तुतः, आत्मा और शरीर में एकत्व माने बिना स्तुति, वन्दन, सेवा आदि अनेक नैतिक आचरण की क्रियाएँ सम्भव नहीं हो सकतीं। दूसरी ओर, आत्मा और देह में भिन्नता माने बिना आसक्तिनाश और भेदविज्ञान की सम्भावना नहीं हो सकती है। नैतिक और धार्मिक– साधना की दृष्टि से आत्मा का शरीर से एकत्व और अनेकत्व–दोनों अपेक्षित हैं। यही जैनदर्शन की मान्यता है। महावीर ने एकान्तिक–वादों को छोड़कर अनैकान्तिक–दृष्टि को स्वीकार किया था और दोनों विरोधी वादों में समन्वय किया। उन्होंने कहा कि आत्मा और शरीर कथंचित्–भिन्न हैं और कथंचित्–अभिन्न हैं।

आत्मा परिणामी है

जैनदर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, जबकि सांख्य एवं शांकर– वेदान्त आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानते हैं। बुद्ध के समकालीन विचारक पूर्णकाश्यप भी आत्मा को अपरिणामी मानते थे। आत्मा को अपरिणामी (कूटस्थ) मानने का तात्पर्य यह है कि आत्मा में कोई विकार, परिवर्तन या स्थित्यन्तर नहीं होता।

जैन–आचार सम्बन्धी ग्रन्थों में यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मा कर्त्ता है। उत्तराध्ययनसूत्र (20/37) में कहा गया है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्त्ता और भोक्ता है। यह भी कहा गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है (उत्तराध्ययन 20/48)।

यही नहीं, सूत्रकृतांग (1/1/13–11) में आत्मा को अकर्त्ता मानने वाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है– "कुछ दूसरे (लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना, कराना आदि क्रिया

आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्त्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है। उत्तराध्ययनसूत्र (23/37) में शरीर को नाव और जीव को नाविक कहकर जीव पर नैतिक या अनैतिक–कर्मों का उत्तरदायित्व डाला गया है।

आत्मा भोक्ता है

यदि आत्मा को कर्त्ता मानना आवश्यक है, तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा, क्योंकि जो कर्मों का कर्त्ता है, उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्त्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों से निर्मित्त शरीर से ही सम्भव है। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व– दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते हैं, मुक्तात्मा या शुद्धात्मा में नहीं। भोक्तृत्व वेदनीय–कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन–दर्शन आत्मा के भोक्तृत्व को भी सापेक्ष–दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

1. व्यावहारिक–दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।
2. अशुद्धनिश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा अपनी मानसिक–अनुभूतियों या मनोभावों का वेदक है।
3. परमार्थ–दृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र दृष्टा या साक्षीस्वरूप है (समयसार 81–92)।

आत्मा में भोक्तृत्व मानना कर्म और उनके प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्त्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों का भोक्ता भी है, अन्यथा कर्म और उसके फलभोग में अनिवार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में धर्म एवं नैतिकता का भी कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा, अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या शरीर उधारी आत्मा के लिए ही समुचित है। अमुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या दृष्टा होता है।

आत्मा स्वदेह–परिमाण है

यद्यपि जैन–विचारणा में आत्मा को रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श आदि

से विवर्जित कहा गया है, तथापि आत्मा को शरीराकार स्वीकार किया गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो दृष्टियाँ हैं–एक के अनुसार, आत्मा विभु (सर्वव्यापी) है और दूसरी के अनुसार अणु है। सांख्य, न्याय और अद्वैत वेदान्त आत्मा को विभु मानते हैं और रामानुज अणु मानते हैं। जैनदर्शन इस सम्बन्ध में मध्यस्थ–दृष्टि अपनाता है। उसके अनुसार, आत्मा अणु भी है और विभु भी है। वह सूक्ष्म है, तो इतना है कि एक आकाश– प्रदेश के अनन्तवें भाग में समा सकता है और विभु है, तो इतना है कि समग्र लोक को व्याप्त कर सकता है। जैन–दर्शन आत्मा में संकोच–विस्तार को स्वीकार करता है और इस आधार पर आत्मा को स्वदेह–परिमाण मानता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे कमरे में रहने पर छोटे कमरे को और बड़े कमरे में रहने पर बड़े कमरे को प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा भी जिस देह में रहता है, उसे चैतन्याभिभूत कर देता है, किन्तु यह बात केवल संसारी–आत्मा के सम्बन्ध में है। मुक्तात्मा का आकार अपने त्यक्त देह का दो तिहाई होता है (उत्तराध्ययन 36)।

आत्मा के विभुत्व की समीक्षा

1. यदि आत्मा विभु (सर्वव्यापक) है, तो वह दूसरे शरीरों में भी होगा, फिर उन शरीरों के कर्मों के लिए उत्तरदायी होगा। यदि यह माना जाये कि आत्मा दूसरे शरीरों में नहीं है, तो फिर वह सर्वव्यापक नहीं होगा।

2. यदि आत्मा विभु है, तो दूसरे शरीरों में होने वाले सुख–दुःख के भोग से कैसे बच सकेगा?

3. विभु आत्मा के सिद्धान्त में कौन आत्मा किस शरीर का नियामक है, यह बताना भी कठिन होगा। वस्तुतः, नैतिक और धार्मिक जीवन के लिए प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का सिद्धान्त ही संगत हो सकता है, ताकि उस शरीर के कर्मों के आधार पर उसे उत्तरदायी ठहराया जा सके।

4. आत्मा की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त अनेकात्मवाद के साथ

कथमपि संगत नहीं हो सकता, साथ ही, अनेकात्मवाद के अभाव में नैतिक जीवन की सुसंगत व्याख्या भी सम्भव नहीं।

आत्माएँ अनेक हैं

आत्मा एक है या अनेक– यह प्रश्न भी दार्शनिक–दृष्टि से विवाद का विषय रहा है। जैनदर्शन के अनुसार, आत्माएँ अनेक हैं और प्रत्येक शरीर की आत्मा भिन्न है। यदि आत्मा को एक माना जाता है, तो नैतिक–दृष्टि से निम्न अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं–

एकात्मवाद की समीक्षा

1. आत्मा को एक मानने पर सभी जीवों की मुक्ति और बन्धन एक साथ होंगे। इतना ही नहीं, सभी शरीरधारियों के नैतिक विकास एवं पतन की विभिन्न अवस्थाएँ भी युगपद् होंगी, लेकिन ऐसा तो दिखता नहीं। सब प्राणियों का आध्यात्मिक एवं नैतिक–जीवन का स्तर अलग–अलग है। यह भी माना जाता है कि अनेक व्यक्ति मुक्त हो चुके हैं और अनेक अभी बंधन में हैं, अतः आत्माएँ एक नहीं, अनेक हैं।

2. आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिक नैतिक–प्रयासों का मूल्य समाप्त हो जायेगा। यदि आत्मा एक ही है, तो व्यक्तिगत प्रयासों एवं क्रियाओं से न तो उसकी मुक्ति सम्भव होगी और न वह बन्धन में ही आयेगा।

3. आत्मा के एक मानने पर नैतिक–उत्तरदायित्व तथा तज्जनित पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था का भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। सारांश में, आत्मा को एक मानने पर वैयक्तिकता के अभाव में नैतिक–विकास, नैतिक–उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ आदि नैतिक–प्रयत्नों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मरण, बंधन–मुक्ति आदि के संतोषप्रद समाधान के लिए अनेक आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता मानना आवश्यक है (विशेषावश्यकभाष्य 1582)। सांख्यकारिका (18) में भी जन्म–मरण इन्द्रियों की विभिन्नता, प्रत्येक की अलग–अलग प्रवृत्ति और स्वभाव तथा नैतिक–विकास की विभिन्नता के आधार पर आत्मा की अनेकता सिद्ध की गयी है।

अनेकात्मवाद की नैतिक–कठिनाई

अनेकात्मवाद नैतिक–जीवन के लिए वैयक्तिकता का प्रत्यय तो प्रस्तुत कर देता है, तथापि अनेक आत्माएँ मानने पर भी कुछ नैतिक–कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन नैतिक–कठिनाइयों में प्रमुखतम यह है कि नैतिकता का समग्र प्रयास जिस अहं के विसर्जन के लिए है, उसी अहं (वैयक्तिकता) को ही यह आधारभूत बना देता है। अनेकात्मवाद में वैयक्तिकता कभी भी पूर्णतया विसर्जित नहीं हो सकती। इसी वैयक्तिकता से राग और आसक्ति का जन्म होता है, जो तृष्णा का ही एक रूप है और यह तृष्णा ही बन्धन का मूल कारण है। दूसरे, 'मैं' या अहंकार भी बंधन ही है।

जैन–दर्शन का निष्कर्ष

जैनदर्शन ने इस समस्या का भी अनेकान्तदृष्टि से सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, आत्मा एक भी है और अनेक भी। समवायांग और स्थानांगसूत्र (1/1) में कहा गया है कि आत्मा एक है। अन्यत्र उसे अनेक भी कहा गया है। टीकाकारों ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि आत्मा द्रव्यापेक्षा से एक है और पर्यायापेक्षा से अनेक, जैसे सिन्धु का जल न एक है और न अनेक। वह जल–राशि की दृष्टि से एक है और जल–बिन्दुओं की दृष्टि से अनेक भी। समस्त जल–बिन्दु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए उस जल–राशि से अभिन्न ही हैं। उसी प्रकार, अनन्त चेतन आत्माएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हुए भी अपनी चेतना–स्वभाव के कारण एक चेतन आत्मद्रव्य ही हैं (समवायांगटीका 1/1)।

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का समाधान बड़े सुन्दर ढंग से आगमों के टीकाकारों के पहले ही कर दिया था। वे सोमिल नामक ब्राह्मण को अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहते हैं– 'हे सोमिल ! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, ज्ञान और दर्शन–रूप दो पर्यायों की प्रधानता से मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होने वाले आत्म–प्रदेशों की दृष्टि से मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ, किन्तु तीनों कालों में बदलते रहने वाले उपयोग– स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ (भगवतीसूत्र 1/8/10)।'

इस प्रकार, भगवान् महावीर जहाँ एक ओर द्रव्यदृष्टि (Substantial view) से आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर, पर्यायार्थिक– दृष्टि से एक ही जीवात्मा में चेतन–पर्यायों के प्रवाह के रूप से अनेक व्यक्तित्वों की संकल्पना को भी स्वीकार कर शंकर के अद्वैतवाद और बौद्धों के क्षणिक– आत्मवाद की खाई को पाटने की कोशिश करते हैं।

जैन–विचारक आत्माओं में गुणात्मक अन्तर नहीं मानते हैं, लेकिन विचार की दिशा में केवल सामान्य दृष्टि से काम नहीं चलता, विशेष दृष्टि का भी अपना स्थान है। सामान्य और विशेष के रूप में विचार की दो दृष्टियाँ हैं और दोनों का अपना महत्व है। महासागर की जल–राशि सामान्य दृष्टि से एक है, लेकिन विशेष दृष्टि से नहीं, जल–राशि अनेक जल–बिन्दुओं का समूह प्रतीत होती है। यही बात आत्मा के विषय में है। चेतना की पर्यायों की विशेष दृष्टि से आत्माएँ अनेक हैं और चेतना–द्रव्य की दृष्टि से आत्मा एक है। जैनदर्शन के अनुसार, आत्मद्रव्य एक है, लेकिन उसमें अनन्त वैयक्तिक आत्माओं की सत्ता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा भी अपनी परिवर्तनशील चैतसिक अवस्थाओं के आधार पर स्वयं भी एक स्थिर इकाई न होकर प्रवाहशील इकाई है। जैनदर्शन यह मानता है कि आत्मा का चरित्र या व्यक्तित्व परिवर्तनशील है, वह देशकालगत परिस्थितियों में बदलता रहता है, फिर भी वही रहता है। हमारे में भी अनेक व्यक्तित्व बनते और बिगड़ते रहते हैं, फिर भी वे हमारे ही अंग हैं। इस आधार पर हम उनके लिए उत्तरदायी रहते हैं। इस प्रकार, जैनदर्शन अभेद में भेद, एकत्व में अनेकत्व की धारणा को स्थान देकर धर्म और नैतिकता के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है।

जैन–दर्शन जिसे जीव की पर्याय अवस्थाओं की धारा कहता है, बौद्ध– दर्शन उसे चित्त–प्रवाह कहता है। जिस प्रकार जैन–दर्शन में प्रत्येक जीव अलग है, उसी प्रकार बौद्ध–दर्शन में प्रत्येक चित्त–प्रवाह अलग है। जैसे बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद में आलयविज्ञान है, वैसे जैन–दर्शन में आत्मद्रव्य है, यद्यपि हमें इन सबमें रहे हुए तात्त्विक–अन्तर को विस्मृत नहीं करना चाहिए।

आत्मा के भेद

जैन–दर्शन अनेक आत्माओं की सत्ता को स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उसके भेद करता है। जैन–आगमों में आत्मा के विभिन्न पक्षों की अपेक्षा से आत्मा के आठ भेद किये गये हैं (भगवतीसूत्र 12/10/467)–

1. **द्रव्यात्मा**–आत्मा का तात्त्विक–स्वरूप।
2. **कषायात्मा**–क्रोध, मान, माया आदि कषायों या मनोवेगों से युक्त चेतना की अवस्था।
3. **योगात्मा**–शरीर से युक्त होने पर चेतना की कायिक, वाचिक और मानसिक–क्रियाओं की अवस्था।
4. **उपयोगात्मा**–आत्मा की ज्ञानात्मक और अनुभूत्यात्मक–शक्तियाँ। यह आत्मा का चेतनात्मक–व्यापार है।
5. **ज्ञानात्मा**– चेतना की चिन्तन की शक्ति।
6. **दर्शनात्मा**– चेतना की अनुभूत्यात्मक–शक्ति।
7. **चरित्रात्मा**– चेतना की संकल्पात्मक–शक्ति।
8. **वीर्यात्मा**– चेतना की क्रियात्मक–शक्ति।

उपर्युक्त आठ प्रकारों में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा– ये चार तात्त्विक–आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चरित्रात्मा और वीर्यात्मा–चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निर्देशक हैं। तात्त्विक–आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है, यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें होती रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा की शरीर से युक्त अवस्था है। यह परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है। आत्मा के बंधन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से संबंधित है। विभिन्न दर्शनों में आत्मा– सिद्धांत के संदर्भ में जो पारस्परिक–विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्ष–विशेष पर बल देने के कारण होता है। भारतीय–परम्परा में बौद्धदर्शन ने आत्मा के अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि सांख्य और शांकर–वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक–स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। जैन–दर्शन

दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है।

विवेक–क्षमता के आधार पर आत्मा के भेद

विवेक–क्षमता की दृष्टि से आत्माएँ दो प्रकार की मानी गई हैं– 1. समनस्क, 2. अमनस्क। समनस्क–आत्माएँ वे हैं, जिन्हें विवेक–क्षमता से युक्त मन उपलब्ध है और अमनस्क–आत्माएँ वे हैं, जिन्हें ऐसी विवेक–क्षमता से युक्त मन उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक धार्मिक–जीवन के क्षेत्र का प्रश्न है, समनस्क–आत्माएँ ही नैतिक आचरण कर सकती हैं और वे ही धार्मिक–साध्य युक्ति की उपलब्धि कर सकती हैं, क्योंकि विवेक–क्षमता से युक्त मन की उपलब्धि होने पर ही आत्मा में शुभाशुभ का विवेक करने की क्षमता होती है, साथ ही, इसी विवेक– बुद्धि के आधार पर वे वासनाओं का संयमन भी कर सकती हैं। जिन आत्माओं में ऐसी विवेक–क्षमता का अभाव है, उनमें संयम की क्षमता का भी अभाव होता है, इसलिए वे आध्यात्मिक–प्रगति भी नहीं कर सकतीं। नैतिक–जीवन के लिए आत्मा में

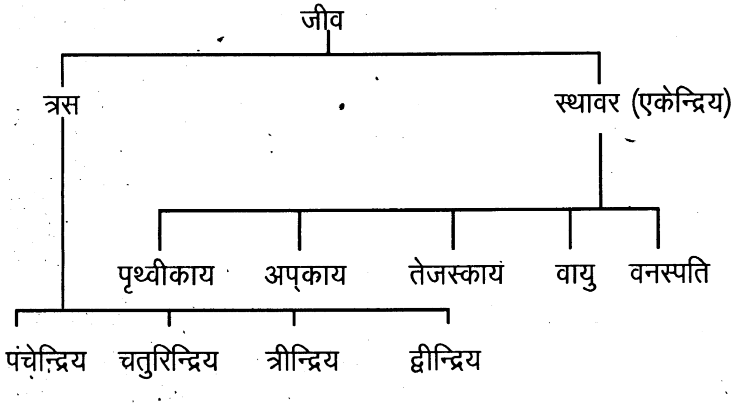

विवेक और संयम– दोनों का होना आवश्यक है और वह केवल उन्हीं में संभव है, जो समनस्क हैं।

यहाँ जैविक–आधार पर भी आत्मा के वर्गीकरण पर विचार अपेक्षित है, क्योंकि जैन–धर्म का अहिंसा–सिद्धांत बहुत कुछ इसी पर निर्भर है।

जैविक–आधार पर जीवों (प्राणियों) का वर्गीकरण

जैन–दर्शन के अनुसार जैविक–आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकता है–

जैविक–दृष्टि से जैन–परम्परा में दस प्राण–शक्तियाँ मानी गयी हैं। स्थावर–एकेन्द्रिय जीवों में चार शक्तियाँ होती हैं– 1. स्पर्श–अनुभव शक्ति, 2. शारीरिक–शक्ति, 3. जीवन (आयु)–शक्ति और 4. श्वसन–शक्ति। द्वीन्द्रिय जीवों में इन चार शक्तियों के अतिरिक्त स्वाद और वाणी की शक्ति भी होती है। त्रीन्द्रिय जीवों में सूँघने की शक्ति भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीवों में इन छह शक्तियों के अतिरिक्त देखने की सामर्थ्य भी होती है। पंचेन्द्रिय अमनस्क जीवों में इन आठ शक्तियों के साथ–साथ श्रवण–शक्ति भी होती है और समनस्क–पंचेन्द्रिय जीवों में इनके अतिरिक्त मनःशक्ति भी होती है। इस प्रकार, जैन–दर्शन में कुल दस जैविक–शक्तियाँ या प्राण–शक्तियाँ मानी गयी हैं। हिंसा– अहिंसा के अल्पत्व और बहुत्व आदि का विचार इन्हीं जैविक–शक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। जितनी अधिक प्राणशक्तियों से युक्त प्राणी की हिंसा की जाती है, वह उतनी ही भयंकर समझी जाती है।

गतियों के आधार पर जीवों का वर्गीकरण

जैन–परम्परा में गतियों के आधार पर जीव चार प्रकार के माने गए हैं– 1. देव, 2. मनुष्य, 3. पशु (तिर्यक) और 4. नारक। जहाँ तक शक्ति और क्षमता का प्रश्न है, देव का स्थान मनुष्य से ऊँचा माना गया है, लेकिन जहाँ तक आध्यात्मिक–नैतिक–साधना की बात है, जैन– परम्परा मनुष्य–जन्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानती है। उसके अनुसार, मानव–जीवन ही ऐसा जीवन है, जिससे मुक्ति या नैतिक–पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। जैन–परम्परा के अनुसार, केवल मनुष्य ही सिद्ध हो सकता है, अन्य कोई नहीं। बौद्ध–परम्परा में भी उपर्युक्त चारों जातियाँ स्वीकृत रही हैं, लेकिन उनमें देव और मनुष्य– दोनों में ही मुक्त होने की क्षमता को मान लिया गया है। बौद्ध–परम्परा के अनुसार, एक देव बिना मानव–जन्म ग्रहण किये देव–गति से सीधे ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, जबकि जैन–परम्परा के अनुसार, केवल मनुष्य ही निर्वाण का अधिकारी है। इस प्रकार,

जैन-परम्परा मानव-जन्म को चरम मूल्यवान् बना देती है।

आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता का प्रश्न नैतिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य- विचारक कांट आत्मा की अमरता को नैतिक-जीवन की सुसंगत व्याख्या के लिए आवश्यक मानते हैं। भारतीय-आचारदर्शनों के प्राचीन युग में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त विवाद का विषय रहा है। उस युग में यह प्रश्न आत्मा की नित्यता एवं अनित्यता के रूप में अथवा शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के रूप में बहुचर्चित रहा है। वस्तुतः, आत्म-अस्तित्व को लेकर दार्शनिकों में इतना विवाद नहीं है, विवाद का विषय है- आत्मा की नित्यता और अनित्यता। यह विषय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा नैतिक-दर्शन से अधिक संबंधित है। जैन-विचारकों ने नैतिक-व्यवस्था को प्रमुख मानकर उसके आधार पर ही नित्यता और अनित्यता की समस्या का हल खोजने की कोशिश की, अतः यह देखना भी उपयोगी होगा कि आत्मा को नित्य अथवा अनित्य मानने पर नैतिक-दृष्टि से कौन-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

आत्मा की नित्यानित्यात्मकता

जैन-विचारकों ने संसार और मोक्ष की सिद्धि के लिए न तो नित्य-आत्मवाद को उपयुक्त समझा और न अनित्य-आत्मवाद को। एकान्त- नित्यवाद और एकान्त-अनित्यवाद- दोनों ही सदोष हैं। आचार्य हेमचन्द्र दोनों को नैतिक-दर्शन की दृष्टि से अनुपयुक्त बताते हुए लिखते हैं- यदि आत्मा को एकान्तनित्य मानें, तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा में अवस्थान्तर अथवा स्थित्यन्तर नहीं होता। यदि इसे एकान्त अनित्य मान लिया जाये, तो सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ आत्मा में घटित नहीं होंगी। फिर, स्थित्यन्तर या भिन्न-भिन्न परिणामों, शुभाशुभ भावों की शक्यता न होने से पुण्य-पाप की विभिन्न वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ भी सम्भव नहीं होंगी, न बन्धन और मोक्ष की उत्पत्ति ही सम्भव होंगी, क्योंकि वहाँ इस क्षण के पर्याय ने जो कार्य किया था, उसका फल

दूसरे क्षण के पर्याय को मिलेगा, क्योंकि वहाँ उन सतत परिवर्तनशील पर्यायों के मध्य कोई अनुस्यूत एक स्थायी तत्त्व (द्रव्य) नहीं है, अतः यह कहा जा सकेगा कि जिसने किया था, उसे फल नहीं मिला और जिसने नहीं किया था, उसे मिला, अर्थात् नैतिक कर्म–सिद्धान्त की दृष्टि से अकृतागम और कृतप्रणाश का दोष होगा (वीतरागस्तोत्र 8/2/3)। अतः, आत्मा को नित्य मानकर भी सतत परिवर्तनशील (अनित्य) माना जाये, तो उसमें शुभाशुभ आदि विभिन्न भावों की स्थिति मानने के साथ ही उसके फलों का भावान्तर में भोग भी सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार, जैन–दर्शन सापेक्ष रूप से आत्मा को नित्य और अनित्य–दोनों स्वीकार करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र (14/19) में कहा गया है कि आत्मा अमूर्त्त होने के कारण नित्य है। भगवतीसूत्र (9/6/3/87) में भी जीव को अनादि, अनिधन, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव और नित्य कहा गया है, लेकिन सब स्थानों पर नित्यता का अर्थ परिणामी नित्यता ही समझना चाहिए। भगवतीसूत्र एवं विशेषावश्यकभाष्य में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है। भगवतीसूत्र (7/2/273) में भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए आत्मा को शाश्वत और अशाश्वत –दोनों कहा है–

"भगवान्! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?"

"गौतम! जीव शाश्वत (नित्य) भी है और अशाश्वत (अनित्य) भी।"

"भगवान्! यह कैसे कहा गया कि जीव नित्य भी है, अनित्य भी?"

"गौतम! द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, भाव की अपेक्षा से अनित्य।"

आत्मा द्रव्य (सत्ता) की ओर से नित्य है, अर्थात् आत्मा न तो कभी अनात्म (जड़) से उत्पन्न होती है और न किसी भी अवस्था में अपने चेतना–लक्षण को छोड़कर जड़ बनती है। इसी दृष्टि से उसे नित्य कहा जाता है, लेकिन आत्मा की मानसिक–अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अतः इस अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा गया है। आधुनिक–दर्शन की भाषा में जैन–दर्शन के अनुसार, तात्त्विक– आत्मा नित्य है और अनुभवाधारित–आत्मा अनित्य है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण की दृष्टि से नित्य और आभूषण की दृष्टि से अनित्य हैं, उसी प्रकार आत्मा आत्मा–तत्त्व की दृष्टि से नित्य और अपने विचारों और भावों की दृष्टि से

अनित्य है।

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तर में भगवान् महावीर ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है कि वे किस अपेक्षा से जीव को नित्य मानते हैं और किस अपेक्षा से अनित्य। भगवान् महावीर कहते हैं– "हे जमाली! जीव शाश्वत है, तीनों कालों में ऐसा कोई समय नहीं है, जब यह जीव (आत्मा) नहीं था, नहीं है, अथवा नहीं होगा। इसी अपेक्षा से यह जीवात्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अक्षय और अव्यय है। हे जमाली! जीव अशाश्वत है, क्योंकि नारक मरकर तिर्यंच होता है, तिर्यंच मरकर मनुष्य होता है, मनुष्य मरकर देव होता है। इस प्रकार, इन नानावस्थाओं को प्राप्त करने के कारण उसे अनित्य कहा जाता है (भगवतीसूत्र 9/6/387 या 1/41/4)।" नैतिक–विचारणा की दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य (परिणामी–नित्य) मानना ही समुचित है। नैतिकता की धारणा में जो विरोधाभास है, उसका निराकरण केवल परिणामीनित्य आत्मवाद में ही सम्भव है। नैतिकता का विरोधाभास यह है कि जहॉ नैतिकता के आदर्श के रूप में जिस आत्म–तत्त्व की विवक्षा है, उसे नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, सदैव समरूप में स्थित, निर्विकार होना चाहिए, अन्यथा पुनः बन्धन एवं पतन की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होंगी, वहीं दूसरी ओर, नैतिकता की व्याख्या के लिए जिस आत्म–तत्त्व की विवक्षा है, उसे कर्त्ता, भोक्ता, वेदक एवं परिवर्तनशील होना चाहिए, अन्यथा कर्म और उनके प्रतिफल और साधना की विभिन्न अवस्थाओं की तरतमता की उपपत्ति नहीं होगी। जैन–विचारकों ने इस विरोधाभास की समस्या के निराकरण का प्रयास किया है। प्रथमतः, उन्होंने एकान्त–नित्यात्मवाद और अनित्यात्मवाद के दोषों को स्पष्ट कर उनका निराकरण किया, फिर यह बताया है कि विरोधाभास तो तब होता है, जब नित्यता और अनित्यता को एक ही दृष्टि से माना जाय, लेकिन जब विभिन्न दृष्टियों से नित्यता और अनित्यता का कथन किया जाता है, तो उसमें कोई विरोधाभास नहीं रहता है। जैनदर्शन आत्मा को पर्यायार्थिक–दृष्टि (व्यवहारनय) की अपेक्षा से अनित्य तथा द्रव्यार्थिक–दृष्टि (निश्चयनय) की अपेक्षा से नित्य मानकर अपनी आत्मा–सम्बन्धी अवधारणा का प्रतिपादन करता है।

आत्मा और पुनर्जन्म

आत्मा की अमरता के साथ पुनर्जन्म का प्रत्यय जुड़ा हुआ है। भारतीय–दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर शेष सभी दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जब आत्मा को अमर मान लिया जाता है, तो पुनर्जन्म को स्वीकार करना ही होगा। गीता (2/22) कहती है–"जिस प्रकार मनुष्य वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर उनका परित्याग कर नये वस्त्र ग्रहण करता रहता है, वैसे ही आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर ग्रहण करती रहती है।" न केवल गीता में, वरन् बौद्ध–दर्शन में भी इसी आशय का प्रतिपादन किया गया है (थेर गाथा 1/38–388)। डॉ. रामानन्द तिवारी (शंकर का आचार–दर्शन, पृ.68) पुनर्जन्म के पक्ष में लिखते हैं– 'एक जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चिरन्तन आत्मा और नश्वर शरीर का सम्बन्ध एक काल– विशेष में ही अन्त हो जाता है, किन्तु चिरन्तन का कालिक सम्बन्ध अन्याय्य (तर्क–विरुद्ध) है और इस (एक–जन्म के) सिद्धान्त में उसका कोई समाधान नहीं है–पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक– व्याख्या देना चाहता है। एक–जन्म सिद्धान्त से उनका कोई समाधान नहीं मिलता है– पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीवन की एक न्यायसंगत और नैतिक व्याख्या देना चाहता है। एक–जन्म के इस सिद्धान्त के अनुसार, जन्मकाल में भागदेयों के भेद को अकारण एवं संयोगजन्य मानना होगा।"

डॉ. मोहनलाल मेहता (जैन साइकोलॉजी, पृ.173) कर्म–सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके शब्दों में– "कर्म–सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म–सिद्धान्त और कर्मसिद्धान्त एक–दूसरे के अति निकट हैं, फिर भी धार्मिक–क्षेत्र में विकसित हुए कुछ दर्शनों ने कर्म को स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं किया है। कट्टर पाश्चात्य–निरीश्वरवादी–दार्शनिक नित्शे ने कर्म–शक्ति और पुनर्जन्म पर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं– कर्म–शक्ति के जो हमेशा रूपान्तर हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं तथा काल अनन्त है,

इसलिए कहना पड़ता है कि जो नामरूप एक बार हो चुके हैं, वहीं फिर आगे यथापूर्व कभी–न–कभी अवश्य उत्पन्न होते ही हैं (गीता रहस्य–तिलक, पृ.268)।''

ईसाई और इस्लाम के धर्मदर्शन यह तो मानते हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक– शुभाशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फलों को इस जीवन में पूर्णतया नहीं भोग पाता है, तो मरण के बाद उनका फल भोगता है, लेकिन फिर भी वे पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, व्यक्ति को सृष्टि के अनन्त में अपने कृत्यों की शुभाशुभता के अनुसार हमेशा के लिए स्वर्ग या किसी निश्चित समय के लिए नरक में भेज दिया जाता है, वहाँ व्यक्ति अपने कृत्यों का फल भोगता रहता है, इस प्रकार वे कर्म–सिद्धान्त को मानते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते हैं।

जो विचारणाएँ कर्म–सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानती हैं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्त्तमान जीवन में जो नैसर्गिक–वैषम्य है, उसका कारण क्या है? क्यों एक प्राणी सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, अथवा जन्मना ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक–क्षमता से युक्त होता है और क्यों दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है और जन्मना हीनेन्द्रिय एवं बौद्धिक–दृष्टि से पिछड़ा हुआ होता है? क्यों एक प्राणी को मनुष्य–शरीर मिलता है और दूसरे को पशु–शरीर मिलता है? यदि इसका कारण ईश्वरेच्छा है, तो ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है। दूसरे, व्यक्ति को अपनी अक्षमताओं और उनके कारण उत्पन्न अनैतिक–कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा। खानाबदोश जातियों में जन्म लेने वाला बालक संस्कारवश जो अनैतिक–आचरण का मार्ग अपनाता है, उसका उत्तरदायित्व किस पर होगा? वैयक्तिक–विभिन्नताएँ ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने कृत्यों का परिणाम हैं। वर्त्तमान जीवन में जो भी क्षमता एवं अवसरों की सुविधा उसे अनुपलब्ध है और जिनके फलस्वरूप उसे नैतिक–विकास का अवसर प्राप्त नहीं होता है, उनका कारण भी वह स्वयं ही है और उत्तरदायित्व भी उसी पर है।

नैतिक–विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है, वरन् उसके पीछे जन्म–जन्मान्तर की साधना होती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्राणी को नैतिक–विकास हेतु अनन्त अवसर प्रदान करता है। बैडले नैतिक–पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं (एथिकल स्टडीज़, पृ.313)। यदि नैतिकता आत्मपूर्णता एवं आत्म–साक्षात्कार की दिशा में सतत प्रक्रिया है, तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है? गीता (6/45) में भी नैतिक–पूर्णता की उपलब्धि के लिए अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है। डॉ. टाटिया भी लिखते हैं कि 'यदि आध्यात्मिक–पूर्णता (मुक्ति) एक तथ्य है, तो उसके साक्षात्कार के लिए अनेक जन्म आवश्यक हैं (स्टडीज़ इन जैन फिलासफी, पृ.22)।'

साथ ही, आत्मा के बन्धन के कारण की व्याख्या के लिए पुनर्जन्म की धारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि वर्त्तमान बन्धन की अवस्था का कारण भूतकालीन जीवन में ही खोजा जा सकता है।

जो दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, वे व्यक्ति के साथ समुचित न्याय नहीं करते। अपराध के लिए दण्ड आवश्यक है, लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि विकास या सुधार का अवसर ही समाप्त कर दिया जाये। जैन–दर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति को नैतिक विकास के अवसर प्रदान करता है तथा अपने को एक प्रगतिशील दर्शन सिद्ध करता है। पुनर्जन्म की धारणा दण्ड के सुधारवादी–सिद्धान्त का समर्थन करती है, जबकि पुनर्जन्म को नहीं मानने वाली नैतिक–विचारणाएँ दण्ड के बदला लेने के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं, जो कि वर्त्तमान युग में एक परम्परागत, किन्तु अनुचित धारणा है।

पुनर्जन्म के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि वही आत्मा (चेतना) पुनर्जन्म ग्रहण करती है, तो फिर उसे पूर्व–जन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती है। स्मृति के अभाव में पुनर्जन्म को किस आधार पर माना जाये? लेकिन यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि हम अक्सर देखते हैं कि हमें अपने वर्त्तमान जीवन की अनेक घटनाओं की भी स्मृति नहीं रहती।

यदि हम वर्त्तमान जीवन के विस्मरित भाग को स्वीकार नहीं करते हैं, तो फिर केवल स्मरण के अभाव में पूर्व–जन्मों की घटनाएँ भी अचेतन–स्तर पर बनी रहती हैं और विशिष्ट अवसरों पर चेतना के स्तर पर भी व्यक्त हो जाती हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि हमें अपने जिन कृत्यों की स्मृति नहीं है, हम क्यों उनके प्रतिफल का भोग करें? लेकिन यह तर्क भी समुचित नहीं है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि हमें अपने कर्मों की स्मृति है या नहीं? हमने उन्हें किया है, तो उनका फल भोगना ही होगा। यदि कोई व्यक्ति इतना अधिक मद्यपान कर ले कि नशे में उसे अपने किये हुए मद्यपान की स्मृति भी नहीं रहे, लेकिन इससे क्या वह उसके नशे से बच सकता है? जो किया है, उसका भोग अनिवार्य है, चाहे उसकी स्मृति हो या न हो (जैन साइकोलाजी–मेहता, पृ.175)।

जैन–चिन्तकों ने इसीलिए कर्मसिद्धान्त की स्वीकृति के साथ–साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। जैन–विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जो जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्व–जन्मों के कृत्य हैं। संक्षेप में, वंशानुगत एवं नैसर्गिक–वैषम्य पूर्व–जन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है। यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है। स्थानांगसूत्र में भूत, वर्त्तमान और भावी–जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल–सम्बन्ध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं– (1) वर्त्तमान के अशुभ कर्म वर्त्तमान जन्म में ही फल देवें। (2) वर्त्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (3) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्त्तमान जन्म में फल देवें। (4) भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (5) वर्त्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्त्तमान जन्म में फल देवें। (6) वर्त्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें। (7) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्त्तमान जन्म में फल देवें। (8) भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें (स्थानांग–सूत्र 8/2)।

इस प्रकार, जैनदर्शन में वर्त्तमान जीवन का सम्बन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है। जैनदर्शन के अनुसार चार प्रकार की योनियाँ हैं– (1) देव (स्वर्गीय–जीवन), (2) मनुष्य, (3) तिर्यंच (वानस्पतिक एवं पशु–जीवन) और (4) नरक (नारकीय–जीवन) (तत्त्वार्थसूत्र 8/11)। प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन योनियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है, तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है, तो पशु–गति या नारकीय–गति प्राप्त करता है। मनुष्य मरकर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी भावी–जीवन में क्या होगा, यह उसके वर्त्तमान जीवन के आचरण पर निर्भर करता है।

पुद्गल–तत्त्व और परमाणु

पुद्गल को भी अस्तिकाय–द्रव्य एवं तत्त्व माना गया है। यह मूर्त्त और अचेतन तत्त्व द्रव्य है। यद्यपि अजीव (जड़) तत्त्व के अन्तर्गत पुद्गल के साथ–साथ धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी मान गये हैं, किन्तु इनकी विस्तृत चर्चा पंच अस्तिकाय एवं षट्द्रव्यों के अन्तर्गत हो चुकी है, अतः यहाँ अजीव–तत्त्व के अन्तर्गत पुद्गल की चर्चा करेंगे। सामान्यतया, पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। इसके अतिरिक्त, जैन–आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप, शब्द, बन्ध–सामर्थ्य, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है। (उत्तराध्ययन 28/127 एवं तत्त्वार्थ–5/23–24)। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं, वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य हैं। जैन–आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य या इकाई माना है। वस्तुतः, यह पुद्गल–द्रव्य समस्त दृश्य–जगत् का मूलभूत घटक है।

ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन में और भगवती जैसे आगमों के प्राचीन अंशों में पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव या चेतन–तत्त्व के लिए भी हुआ है, किन्तु इसे पौद्गलिक–शरीर की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। यद्यपि बौद्ध–परम्परा में तो पुद्गल–प्रज्ञप्ति (पुग्गल पञ्ञति) नामक एक ग्रन्थ ही है, जो जीव के प्रकारों आदि की चर्चा करता है, फिर भी जीवों के लिए

'पुद्गल' शब्द का प्रयोग मुख्यतः शरीर की अपेक्षा से ही देखा जाता है। परवर्ती जैन–दार्शनिकों ने तो पुद्गल शब्द का प्रयोग स्पष्टतः भौतिक–तत्त्व के लिए ही किया है और उसे ही दृश्य–जगत् का कारण माना है, क्योंकि जैन–दर्शन में पुद्गल ही ऐसा तत्त्व है, जिसे मूर्त्त या इन्द्रियों की अनुभूति का विषय कहा गया है। वस्तुतः, पुद्गल के उपर्युक्त गुण ही उसे हमारी इन्द्रियों की अनुभूति का विषय बनाते हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन–दर्शन में प्राणीय–शरीर, यहाँ तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति का शरीर–रूप दृश्य स्वरूप भी पुद्गल की ही निर्मित है। विश्व में जो कुछ भी मूर्त्तिमान या इन्द्रिय–अनुभूति का विषय है, वह सब पुद्गल का खेल है। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जैन–दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु– इन चारों को शरीर की अपेक्षा पुद्गलरूप से मानने के कारण इनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण– ये चारों गुण माने गये हैं, जबकि वैशेषिक आदि दर्शन मात्र पृथ्वी को ही उपर्युक्त चारों वर्णों से युक्त मानते हैं। वे जल को गन्धरहित त्रिगुण वाला, तेज को गन्ध और रसरहित मात्र द्विगुण वाला और वायु को मात्र एक स्पर्शगुणवाला मानते हैं। यहाँ एक विशेष तथ्य यह भी है कि जहाँ अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, वहाँ जैन–दार्शनिकों ने शब्द को पुद्गल का ही गुण माना है। उनके अनुसार, आकाश का गुण तो मात्र अवगाह अर्थात् स्थान देना है।

यह दृश्य–जगत् पुद्गल के ही विभिन्न संयोगों का विस्तार है, अनेक पुद्गल–परमाणु मिलकर स्कंध की रचना करते हैं और स्कंधों से ही मिलकर दृश्य–जगत् की सभी वस्तुएँ निर्मित होती हैं। नवीन स्कंधों के निर्माण और पूर्व निर्मित स्कन्धों के संगठन और विघटन की प्रक्रिया के माध्यम से ही दृश्य–जगत् में परिवर्तन घटित होते हैं और विभिन्न वस्तुएँ और पदार्थ अस्तित्व में आते हैं।

जैन–आचार्यों ने पुद्गल को स्कंध और परमाणु– इन दो रूपों में विवेचित किया है। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही स्कंध बनता है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि पुद्गल–द्रव्य का अंतिम घटक तो परमाणु ही है। उसमें स्वभाव से एक रस, एक वर्ण, एक गंध और शीत–उष्ण या

स्निग्ध–रुक्ष में से कोई दो स्पर्श पाये जाते हैं।

जैन–आगमों में वर्ण पाँच माने गये हैं– लाल, पीला, नीला, सफेद और काला; गंध दो हैं– सुगन्ध और दुर्गन्ध; रस पाँच हैं– तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा और मीठा और इसी प्रकार स्पर्श आठ माने गये हैं– शीत और उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, मृदु और कर्कश तथा हल्का और भारी।

इस प्रकार, जैनदर्शन में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श–गुणों के बीच भेद माने गये हैं। पुनः, जैनदर्शन इनमें से प्रत्येक में भी उनकी तरतमता (डिग्री या मात्रा) के आधार पर भेद करता है, उदाहरण के रूप में– वर्ण में लाल, काला आदि वर्ण हैं; किन्तु इनमें भी लालिमा और कालिमा के हल्के, तेज आदि अनेक स्तर देखे जाते हैं। लाल वर्ण एक गुण (डिग्री) लाल से लगाकर संख्यात्, असंख्यात् और अनन्तगुण लाल हो सकता है। यही स्थिति काले आदि अन्य वर्णों की भी होगी। इसी प्रकार, रस में खट्टा, मीठा आदि रस भी एक ही प्रकार के नहीं होते हैं, उनमें भी तरतमता होती है। मिठास, खटास या सुगन्ध–दुर्गन्ध आदि के भी अनेकानेक स्तर हैं। यही स्थिति उष्ण आदि स्पर्शों की है। ैन–दार्शनिकों के अनुसार, उष्मा भी एक गुण (एक डिग्री) से लेकर संख्यात्, असंख्यात् या अनन्त गुण (डिग्री) की हो सकती है। इस प्रकार, जैन–दार्शनिकों ने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में प्रत्येक– अवान्तर भेद किये हैं, तथा तरतमता या डिग्री के आधार पर उनके अनन्त भेद भी माने हैं। उनका यह दृष्टिकोण आज भी विज्ञानसम्मत है।

जैन–दार्शनिकों के अनुसार, शब्द भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम है। निमित्त–भेद से उसके अनेक भेद माने जाते हैं। जो शब्द जीव या प्राणियों के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, वह प्रायोगिक है और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है, वह वैस्रसिक है, जैसे– बादलों का गर्जन। प्रायोगिक शब्द के मुख्यतः निम्न छह प्रकार हैं– 1. भाषा–मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त– ऐसी अनेकविध भाषाएँ;, 2. तत–चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द; 3. वितत– तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द, 4. घन–झालर, घंट आदि का शब्द; 5. शुषिर–फूँककर बजाये

जाने वाले शंख, बाँसुरी आदि का शब्द और 6. संघर्ष– दो वस्तुओं के घर्षण से उत्पन्न किया गया शब्द।

इस प्रकार, परस्पर आश्लेषरूप बन्ध के भी प्रायोगिक और वैस्रसिक– ये दो भेद हैं। जीव और शरीर का बन्ध तथा लाख आदि से जोड़कर बनाई गई वस्तुओं का बन्ध प्रयत्नसापेक्ष होने से प्रायोगिक–बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का बन्ध प्राणी के प्रयत्न–निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्त्रसिक बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के भी अन्त्य तथा आपेक्षिक होने से ये दो–दो प्रकार के भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व– दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा–भेद से घटित न हों, वे अन्त्य कहे जाते हैं और जो घटित हों, वे आपेक्षिक कहे जाते हैं। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगत्–व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घटित नहीं होता। द्वयणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों के सूक्ष्मत्व व स्थूलत्व– दोनों आपेक्षिक हैं, जैसे– आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व सापेक्षिक हैं, आँवला बिल्व की अपेक्षा छोटा है, अतः सूक्ष्म है और बिल्व आँवले की अपेक्षा बड़ा है, अतः स्थूल है, परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा बड़ा है, किन्तु वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा छोटा है। इस प्रकार, आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व– दोनों विरुद्ध गुण–धर्म होते हैं, किन्तु अन्त्य–सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में एक ही साथ नहीं होते हैं।

संस्थान इत्थत्व और अनित्थत्व– दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थत्वरूप है और जिसकी तुलना न की जा सके, वह अनित्थत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान (रचना–विशेष) अनित्थत्वरूप है, क्योंकि अनियत होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण नहीं किया जा सकता, जबकि अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थत्वरूप है, जैसे– गेंद, सिंघाड़ा आदि। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, पारिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थत्वरूप–संस्थान के अनेक भेद हैं।

स्कन्धरूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेषण (विभाग) होना भेद

है। इसके पाँच प्रकार हैं– 1. औत्करिक–चीरे या खोदे जाने पर होने वाले लकड़ी, पत्थर आदि के बड़े टुकड़े 2. चौर्णिक–कण–कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे–गेहूँ, जौ आदि का आटा 3. खण्ड–टुकड़े–टुकड़े होकर टूट जाना, जैसे– घड़े के कपालादि; 4. प्रतर–परतें या तहें निकलना, जैसे– भोजपत्र, अभ्रक आदि; 5. अनुतट–छाल निकलना, जैसे– बाँस, ईख आदि की छाल।

इसी प्रकार, तम अर्थात् अन्धकार, देखने में रुकावट डालने वाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम–विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं– दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में पड़ने वाला मुखादि का प्रतिबिम्ब ज्यों–का–त्यों दिखाई देता है और अन्य अस्वच्छ वस्तुओं पर पड़ने वाली परछाई प्रतिबिम्बरूप छाया है। सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण (शीतल) प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श, वर्ण, गन्ध, रस, शब्द आदि सभी पर्यायें पुद्गल के कार्य होने से पौद्गलिक मानी जाती हैं। (तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलालजी, पृ.129–30)

ज्ञातव्य है कि पुद्गल में मृदु, कर्कश, हल्का और भारी– चार स्पर्श भी होते हैं। ये चार स्पर्श तभी संभव होते हैं, जब परमाणुओं से स्कंधों की रचना होती है और तभी उनमें मृदु, कठोर, हल्के और भारी गुण भी प्रकट हो जाते हैं। परमाणु एकप्रदेशी होता है, जबकि स्कंध में दो या दो से अधिक असंख्य प्रदेश तक भी हो सकते हैं। स्कंध, स्कंध–देश, स्कंध–प्रदेश और परमाणु– ये चार पुद्गल द्रव्य के विभाग हैं। इनमें परमाणु निरवयव है। आगम में उसे आदि, मध्य और अन्त से रहित बताया गया है, जबकि स्कंध में आदि और अन्त होते हैं। न केवल भौतिक वस्तुएँ, अपितु शरीर, इन्द्रियाँ और मन भी स्कंधों का ही खेल है।

स्कंधों के प्रकार

जैन–दर्शन में स्कंध के निम्न 6 प्रकार माने गये हैं–

1. **स्थूल**– इस वर्ग के अन्तर्गत विश्व के समस्त ठोस पदार्थ आते हैं। इस वर्ग के स्कंधों की विशेषता यह है कि वे छिन्न–भिन्न होने पर

मिलने में असमर्थ होते हैं, जैसे–पत्थर।

2. **स्थूल–** जो स्कंध छिन्न–भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जाते हैं, वे स्थूल स्कंध कहे जाते हैं। इसके अन्तर्गत विश्व के तरल द्रव्य आते हैं, जैसे–पानी, तेल आदि।
3. **स्थूल–स्थूल–** जो पुद्गल–स्कन्ध छिन्न–भिन्न नहीं किये जा सकते हों, अथवा जिनका ग्रहण या लाना ले जाना संभव नहीं हो, किन्तु जो चक्षु इन्द्रिय के अनुभूति के विषय हों, वे स्थूल–सूक्ष्म या बादर–सूक्ष्म कहे जाते हैं, जैसे–प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि।
4. **सूक्ष्म–स्थूल–** वे विषय, जो दिखाई नहीं देते हैं, किन्तु हमारी ऐन्द्रिक– अनुभूति के विषय बनते हैं, सूक्ष्म–स्थूल हैं, जैसे– सुगन्ध, शब्द आदि। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत्–धारा का प्रवाह और अनुभूत अदृश्य गैस भी इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। जैन–आचार्यों ने ध्वनि, तरंग आदि को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत माना है। वर्त्तमान युग में इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा चित्र आदि का सम्प्रेषण किया जाता है, उसे भी हम इसी वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं।
5. **सूक्ष्म–** जो स्कंध इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हों, वे इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जैनाचार्यों ने कर्मवर्गणा (जो जीवों के बंधन का कारण है) मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदि को इसी वर्ग में माना है।
6. **अति सूक्ष्म–** द्वयणुक आदि अत्यन्त छोटे स्कंध अति सूक्ष्म माने गये हैं।

स्कंध के निर्माण की प्रक्रिया

स्कंध की रचना दो प्रकार से होती है– एक ओर बड़े–बड़े स्कंधों के टूटने से या छोटे–छोटे स्कंधों के संयोग से नवीन स्कंध बनते हैं, तो दूसरी ओर, परमाणुओं में निहित स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता के कारण परस्पर बंध होता है, जिससे भी स्कंधों की रचना होती है, इसलिए यंह कहा गया है कि संघात और भेद से स्कंध की रचना होती है

(सघातभेदेभ्यःउत्पद्यन्ते-तत्त्वार्थ 5/26)। संघात का तात्पर्य एकत्रित होना और भेद का तात्पर्य टूटना या अलग-अलग होना है। किस प्रकार के परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कंध आदि की रचना होती है- इस प्रश्न पर भी जैनाचार्यों ने विस्तृत चर्चा की है।

पौद्गलिक-स्कन्ध की उत्पत्ति मात्र उसके अवयवभूत परमाणुओं के पारस्परिक-संयोग से नहीं होती है। इसके लिए उनकी कुछ विशिष्ट योग्यताएं भी अपेक्षित होती हैं। पारस्परिक-संयोग के लिए उनमें स्निग्धत्व (चिकनापन), रूक्षत्व (रूखापन) आदि गुणों का होना भी आवश्यक है। जब स्निग्ध और रूक्ष परमाणु या स्कन्ध आपस में मिलते हैं, तब उनका बन्ध (एकत्वपरिणाम) होता है, इसी बन्ध से द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते हैं।

स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं या स्कन्धों का संयोग सदृश और विसदृश- दो प्रकार का होता है। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध सदृश बन्ध है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध विसदृश-बन्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य अर्थात् न्यूनतम हो, उन जघन्य गुण (डिग्री) वाले परमाणुओं का पारस्परिक- बन्ध नहीं होता है। इससे यह भी फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्ट-संख्यक अंशों वाले स्निग्ध एवं रूक्ष- सभी परमाणुओं या स्कन्धों का पारस्परिक-बन्ध हो सकता है, परन्तु इसमें भी अपवाद है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, समान अंशों वाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का फलितार्थ यह भी है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवी स्कन्धों का बन्ध होता है। इस फलितार्थ का संकोच करके तत्त्वार्थसूत्र (5/35) में सदृश असमान अंशों की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत की गई है। तदनुसार, असमान अंशवाले सदृश अवयवों में भी जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो, तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध होता है, इसलिए यदि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व केवल एक अंश अधिक हो, तो भी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं होता है। उनमें कम-से-कम दो या दो से अधिक गुणों का अंतर

होना चाहिए। पं. सुखलालजी लिखते हैं–

श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों परम्पराओं में बन्ध–सम्बन्धी प्रस्तुत तीनों सूत्रों में पाठभेद नहीं है, पर अर्थभेद अवश्य है। अर्थभेद की दृष्टि से ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं–

1. जघन्यगुण परमाणु एक अंश वाला हो, तब बन्ध का होना या न होना, 2. 'आदि' पद से तीन आदि अंश लिए जाए या नहीं और 3. बन्धविधान केवल सदृश अवयवों के लिए माना जाए अथवा नहीं।

इस सम्बन्ध में पंडितजी आगे लिखते हैं–

1. तत्त्वार्थभाष्य और सिद्धसेनगणि की उसकी वृत्ति के अनुसार, जब दोनों परमाणु जघन्य गुणवाले हों, तभी उनके बन्ध का निषेध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्यगुण हो और दूसरा जघन्यगुण न हो, तभी उनका बन्ध होता है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार, एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

2. तत्त्वार्थभाष्य और उसकी वृत्ति के अनुसार, सूत्र 35 के 'आदि' पद का तीन आदि अंश अर्थ लिया जाता है, अतएव उसमें किसी एक परमाणु से दूसरे परमाणु में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार तथा बढ़ते–बढ़ते संख्यात्, असंख्यात–अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है; केवल एक अंश अधिक होने पर ही बन्ध नहीं माना जाता है, परन्तु सभी दिगम्बर–व्याख्याओं के अनुसार– केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार, संख्यात्, असंख्यात् अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

3. भाष्य और वृत्ति के अनुसार, दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश अवयवों पर ही लागू होता है, विसदृश पर नहीं, परन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में वह विधान सदृश की भाँति विसदृश परमाणुओं के बन्ध पर भी लागू होता है।

इस अर्थभेद के कारण दोनों परम्पराओं में बन्ध विषयक जो विधि–निषेध फलित होता है, वह इस प्रकार है–

भाष्य–वृत्यानुसार

गुण–अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
3. जघन्य+द्वयधिक	है	है
4. जघन्य+ष्यादि अधिक	है	है
5. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	है
6. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
7. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या–ग्रन्थों के अनुसार

गुण–अंश	सदृश	विसदृश
1. जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
2. जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
3. जघन्य+द्वयधिक	नहीं	नहीं
4. जघन्य+त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
5. जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
6. जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
7. जघन्येतर+द्वयधिक जघन्येतर	है	है
8. जघन्येतर+त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

इस बन्ध–विधान को स्पष्ट करते हुए अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में पं. सुखलालजी लिखते हैं कि स्निग्धत्व और रूक्षत्व– दोनों स्पर्श–विशेष हैं। ये अपनी–अपनी जाति की अपेक्षा एक–एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर रहता है, जैसे– बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व में, स्निग्धत्व दोनों में ही होता है, परन्तु

एक में अत्यल्प होता है और दूसरे में अत्यधिक। तरतमतावाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व–परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो, उसे जघन्य अंश कहते हैं। जघन्य को छोड़कर शेष सभी जघन्येतर कहे जाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। सबसे अधिक स्निग्धत्व परिणाम उत्कृष्ट है और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच के सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुना अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाए, तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंश परिमित मानना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त से एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम हैं।

यहाँ सदृश का अर्थ है– स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का *रूक्ष के साथ बन्ध होना और विसदृश का अर्थ है– स्निग्ध का रूक्ष के* साथ बन्ध होना। एक अंश जघन्य है और उससे एक अधिक अर्थात् दो *अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक हों, तब द्वयधिक और तीन अंश अधिक* हों तब त्रयोधिक। इसी तरह, चार अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त अधिक कहलाता है। सम अर्थात् दोनों के अंशों की संख्या समान हो, तब वह सम हैं। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश है, दो अंश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश है, दो अंश जघन्येतर का द्वयधिक जघन्येतर चार अंश है, दो अंश जघन्येतर का त्र्याधिक जघन्येतर पाँच अंश है और चतुरधिक जघन्येतर छः अंश है। इसी प्रकार, तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्वयधिक और त्र्यादि जघन्येतर अंश होते हैं।

यहाँ यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि समांश स्थल में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है, परन्तु अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता

है, जैसे–पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने रूप में परिणत करता है, अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के सम्बन्ध से पाँच अंश परिणत हो जाता है। इसी प्रकार, पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्वस्वरूप में मिला लेता है, अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व में बदल जाता है। रूक्षत्व अधिक हो, तो वह अपने से कम स्निग्धत्व को अपने रूप का बना लेता है। मेरे विचार में यहाँ यह भी सम्भव है कि दोनों के मिलन से अंशों की अपेक्षा कोई तीसरी अवस्था भी बन सकती है।

जैन–दर्शन में परमाणु

जैनदर्शन में परमाणु को पुद्गल का सबसे छोटा अविभागी अंश माना गया है। यथा **'जंदव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणेहि'**, अर्थात् जो द्रव्य अविभागी है, उसको निश्चय से परमाणु जानो। इसी तरह की परिभाषा डेमोक्रिट्स ने भी दी है, जिसका उल्लेख पूर्व में कर आये हैं। परमाणु का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं–

अंतादि अंतमज्झं अंतंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
जं अविभागी दव्वं तं परमाणुं पसंसंति ।। – नियमसार 29

अर्थात्, परमाणु का वही आदि, वही अंत तथा वही मध्य होता है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। वह सर्वथा अविभागी है– उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्य को परमाणु कहते हैं। परमाणु सत् है, अतः अविनाशी है, साथ ही उत्पाद–व्यय–धर्मा, अर्थात् रासायनिक–स्वभाव वाला भी है। इस तथ्य को वैज्ञानिकों ने भी माना है। वे भी परमाणु को रासायनिक–परिवर्तन–क्रिया में भाग लेने योग्य परिणमनशील मानते हैं। परमाणु जब अकेला–असम्बद्ध होता है, तब उसमें प्रतिक्षण स्वभावानुकूल पर्यायें या अवस्थाएँ होती रहती हैं तथा जब वह अन्य परमाणु से सम्बद्ध होकर स्कंध की दशारूप में होता है, तब उसमें विभाव या स्वभावेतर पर्यायें भी द्रवित होती रहती हैं। इसी कारण ही उसे द्रव्य कहा जाता है। द्रव्य की व्युत्पत्ति का सम्यक् अर्थ यही है कि जो द्रवित अर्थात् परिवर्तित हो। परमाणु भी इसका अपवाद नहीं है।

परमाणु की उत्पत्ति

यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य उसका अस्तित्व में आने से नहीं, क्योंकि परमाणु सत्–स्वरूप है। सत् की न तो उत्पत्ति होती है और न नाश। सत् तो सदाकाल अनादि–अनंत है, अतः वह अविनाशी है। यहां परमाणु की उत्पत्ति का तात्पर्य मिले हुए परमाणुओं के समूह से या स्कंधों से विखण्डित होकर परमाणु का आविर्भाव है। वस्तुतः, परमाणुओं से स्कन्ध और स्कन्ध से परमाणु आविर्भूत होते रहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, भेदादणुः, अर्थात् भेद से अणु प्रकट होता है, किन्तु यह भेद की प्रक्रिया तब तक होनी चाहिए, जब पुद्गल स्कंध एकप्रदेशी अंतिम इकाई के रूप में अविभाज्य न हो जाये। यह अविभाज्य परमाणु किसी भी इंद्रिय या अणुवीक्षण–यंत्रादि से भी ग्राह्य (दृष्टिगोचर) नहीं होता है। जैनदर्शन में इसे केवल सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रोफेसर जान पिल्ले लिखते हैं– वैज्ञानिक पहले अणु को ही पुद्गल का सबसे छोटा, अभेद्य अंश मानते थे, परन्तु जब उसके भी विभाग होने लगे, तो उन्होंने अपनी धारणा बदल दी और अणु को मालीक्यूल अर्थात् सूक्ष्म स्कन्ध नाम दिया तथा परमाणु को एटम नाम दिया, किन्तु अब तो परमाणु के भी न्यूट्रान, प्रोटान और इलेक्ट्रान जैसे भेद कर दिये गये हैं, जिससे सिद्ध होता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों का परमाणु अविभागी नहीं है। जैन–दर्शन तो ऐसे परमाणु को भी सूक्ष्म स्कन्ध ही कहता है। पुद्गल के समान परमाणु में भी वर्ण, रस, गंध, एक रस और मात्र दो स्पर्श– शीत और उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक पाये जाते हैं।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शब्द, अंधकार, प्रकाश, छाया, गर्मी आदि को पुद्गल–द्रव्य का ही पर्याय माना है। इस दृष्टि से जैनदर्शन का पुद्गल–विचार आधुनिक विज्ञान के बहुत अधिक निकट है।

जैनदर्शन की ही ऐसी अनेक मान्यताएं हैं, जो कुछ वर्षों तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थीं, किन्तु आज विज्ञान से प्रमाणित

हो रही हैं, उदाहरण के रूप में– प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया, शब्द आदि पौद्गलिक हैं– जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिक सिद्ध हो चुकी है। जैन–आगमों का कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनिरूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है, इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक–खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त सूक्ष्म रूप में क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म–चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है– कुछ वर्षों पूर्व तक यह कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है, उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक–पिण्ड से प्रकाश–किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती हैं। आज यदि मानव–मस्तिष्क में टेलीविजन–सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने का **सामर्थ्य** विकसित हो जाये, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के **हस्तामलकवत् ज्ञान** में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम सबके पास पहुँच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण–शक्ति विकसित हो जाए, तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत–कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुका है, अथवा जिसके विज्ञानसम्मत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम– वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक सिद्ध हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों कीं वैज्ञानिक–ज्ञान के प्रकाश में जो व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है, उदाहरण के रूप में, परमाणुओं के पारस्परिक

बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र है– स्निग्धरूक्षत्वात् बन्धः। इसमें स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के एक–दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रूक्ष (खुरदुरे) परमाणुओं में बन्ध होता है, किन्तु आज इस सूत्र की वैज्ञानिक–दृष्टि से व्याख्या होगी, तो स्निग्ध अर्थात् धनात्मक–विद्युत् से आवेशित एवं रूक्ष अर्थात् ऋणात्मक–विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म–कण, जैनदर्शन की भाषा में परमाणु, परस्पर मिलकर स्कन्ध (Molecule) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। प्रो. जी.आर. जैन ने अपनी पुस्तक ब्वउवसवहल व्सक दक छमू में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है और इस सूत्र की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया है।

जहाँ तक भौतिक–तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है, वैज्ञानिकों एवं जैन–आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं हैं। परमाणु या पुद्गल–कणों में जिस अनन्त शक्ति का निर्देश जैन आचार्यों ने किया था, वह अब आधुनिक वैज्ञानिक–अन्वेषणों से सिद्ध हो रहा है। आधुनिक–वैज्ञानिक इस तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी, भौतिक–पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा को लेकर वैज्ञानिकों एवं जैन–विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध (Molecule) की रचना का जैन–सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है, इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है। वास्तविकता तो यह हैं कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था, क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक–तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार, आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जबकि जैनदर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः, जैनदर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी

उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकीविदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घटक है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाए हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन जैन-अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है, उसका एक उदाहरण यह है कि जैन तत्त्व-मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल-परमाणु जितनी जगह घेरता है- वह एक आकाश-प्रदेश कहलाता है, दूसरे शब्दों में, एक आकाश-प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर, आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाश-प्रदेश में अनन्त पुद्गल-परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था, लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं, जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग 8 सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं, अतः सूक्ष्म अवगाहन-शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश-प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जाएं।

जैनदर्शन का परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान के कितना निकट है, इसका विस्तृत विवरण श्री उत्तमचन्द जैन ने अपने लेख 'जैनदर्शन का तात्त्विक-पक्ष परमाणुवाद' में दिया है। हम यहाँ उनके मन्तव्य का कुछ अंश आंशिक-परिवर्तन के साथ उद्धृत कर रहे हैं-

जैन-परमाणुवाद और आधुनिक विज्ञान

जैन-दर्शन की परमाणुवाद पर आधारित निम्न घोषणाएँ आधुनिक विज्ञान के परीक्षणों द्वारा सत्य साबित हो चुकी हैं-

1. परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के यौगिक, उनका विखण्डन एवं संलयन, विसरण, उनकी बंध, शक्ति, स्थिति, प्रभाव, स्वभाव, संख्या आदि का अतिसूक्ष्म वैज्ञानिक-विवेचन जैन-ग्रन्थों में विस्तृत रूप में उपलब्ध है।
2. पानी स्वतंत्र तत्त्व नहीं, अपितु पुद्गल की ही एक अवस्था है। यह

वैज्ञानिक सत्य है कि जल यौगिक है।

3. शब्द आकाश का गुण नहीं, अपितु भाषावर्गणारूप स्कंधों का अवस्थान्तर है, इसलिए यंत्रग्राह्य है।

4. विश्व किसी के द्वारा निर्मित नहीं, क्योंकि सत् की उत्पत्ति या विनाश संभव नहीं। सत् का लक्षण ही उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त होना है। पुद्गल निर्मित विश्व मिथ्या एवं असत् नहीं है, सत्–स्वरूप है।

5. प्रकाश, अंधकार तथा छाया– ये पुद्गल की ही पृथक्–पृथक् पर्याय हैं, यंत्र ग्राह्य हैं। इनके स्वरूप की सिद्धि आधुनिक सिनेमा, फोटोग्राफी, केमरा आदि द्वारा हो चुकी है।

6. आतप एवं उद्योत भी परमाणु एवं स्कंधों की ही पर्याय हैं, संग्रहणीय हैं।

7. जीव तथा पुद्गल के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक आने–जाने में सहकारी अचेतन अमूर्तिक–धर्म नामक द्रव्य है, जो सर्व जगत् में व्याप्त है। विज्ञानवेत्ताओं ने उसे ईश्वर नाम दिया है।

9. जीव और पुद्गलों की स्थिति (ठहरने) में अधर्म–द्रव्य सहकारी है, जिसे अमूर्त्त, अचेतन एवं विश्वव्यापी बताया गया है। वैज्ञानिकों ने इसे गुरुत्वाकर्षण–शक्ति नाम दिया है।

10. आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो समस्त द्रव्यों को अवकाश (स्थान) प्रदान करता है। विज्ञान की भाषा में इसे 'स्पेस' कहते हैं।

11. काल भी एक भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है, जिसे मिन्कों ने 'फोर डाइमेन्शनल थ्योरी' के नाम से अभिहित किया है । समय को काल–द्रव्य की ही एक पर्याय माना गया है। (देखिए–सन्मति सन्देश, फरवरी, 67, पृष्ठ 24, प्रो. निहालचन्द)

12. वनस्पति एकेन्द्रिय–जीव है, उसमें स्पर्श–संबंधी ज्ञान होता है। स्पर्श–ज्ञान के कारण ही 'लाजवन्ती' नामक पौधा स्पर्श करते ही झुक जाता है। वनस्पति में प्राण–सिद्धि करने वाले प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु हैं। वनस्पति–शास्त्र चेतनतत्त्व को प्रोटोप्लाज्म नाम देता है।

13. जैनदर्शन ने अनेकांतस्वरूप वस्तु के विवेचन की पद्धति 'स्याद्वाद' बताया, जिसे वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद–सिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध किया है।
14. जैनदर्शन एक लोकव्यापी महास्कंध के अस्तित्व को भी मानता है, जिसके निमित्त से तीर्थंकरों के जन्म आदि की खबर जगत् में सर्वत्र फैल जाती है, यह तथ्य आज टेलीपैथी के रूप में मान्य है।
15. पुद्गल को शक्ति–रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, परन्तु मैटर और उसकी शक्ति को अलग नहीं किया जा सकता।
16. इंद्रिय, शरीर, भाषा आदि 6 प्रकार की पर्याप्तियों का वर्णन आधुनिक जीवनशास्त्र में कोशिकाओं और तन्तुओं के रूप में है।
17. जीव–विज्ञान तथा वनस्पति–विज्ञान का जैन–वर्गीकरण आधुनिक जीवनशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र द्वारा आंशिक रूप में स्वीकृत हो चुका है।
18. तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सूर्य, तारा, नक्षत्र आदि की आयु, प्रकार, अवस्थाएँ आदि का सूक्ष्म वर्णन आधुनिक सौर्य–जगत् के अध्ययन से आंशिक रूप में प्रमाणित होता है, यद्यपि कुछ अन्तर भी है।

प्रयोग से प्राप्त सत्य की तरह चिन्तन से प्राप्त सत्य स्थूल आकार में सामने नहीं आता, अतः साधारणतया जनता की श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट करना विज्ञान के लिए जितना सहज है, दर्शन के लिए उतना नहीं। इतना होने पर भी दोनों कितने नजदीक हैं– यह देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है।

श्री उत्तमचन्द जैन की उपर्युक्त तुलना का निष्कर्ष यही है कि जैन–दर्शन का परमाणुवाद आज विज्ञान के अति निकट है। आज आवश्यकता है– हम अपनी आगमिक–मान्यताओं का वैज्ञानिक–विश्लेषण कर उनकी सत्यता का परीक्षण करें।

जैन–तत्त्वमीमांसा और आधुनिक विज्ञान

यह सत्य है कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति के परिणामस्वरूप विभिन्न धर्मों और दर्शनों की लोक के स्वरूप एवं सृष्टि–सम्बन्धी तथा

खगोल–भूगोल–सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लग गये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ प्रबुद्धजनों ने वैज्ञानिक–मान्यताओं को चरम सत्य स्वीकार करके विविध धर्मों की परम्परागत मान्यताओं को काल्पनिक एवं अप्रामाणिक बताना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप, अनेक धर्मानुयायिओं की श्रद्धा को ठेस पहुँची और आप्त–पुरुषों के वचन या सर्वज्ञ के कथन में अथवा आगमों के आप्तप्रणीत होने में उन्हें संदेह होने लगा। इस सम्बन्ध में अनेक पत्र–पत्रिकाओं में गवेषणापरक लेखों के माध्यम से पर्याप्त ऊहापोह भी हुआ और दोनों पक्षों ने अपनी बात को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विशेष रूप से यह बात तब अधिक विवादास्पद विषय बन गई, जब पाश्चात्य–वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा की सफल यात्रा कर ली और उस सम्बन्ध में अनेक ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर दिए, जो विभिन्न धर्मों की खगोल–भूगोल–सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध में जाते हैं।

यह सत्य है कि विज्ञान के माध्यम से धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास एवं मिथ्या धारणाएं समाप्त हुई हैं, किन्तु जो लोग वैज्ञानिक–निष्कर्षों को चरम सत्य मानकर धर्म व दर्शन के निष्कर्षों पर और उनकी उपयोगिता पर चिह्न लगा रहे हैं, वे भी किसी भ्रान्ति में हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि कालक्रम में पूर्ववर्ती अनेक वैज्ञानिक–धारणाएं अवैज्ञानिक बन चुकी हैं। न तो विज्ञान और न प्रबुद्ध वैज्ञानिक इस बात का दावा करते हैं कि हमारे जो निष्कर्ष हैं, वे अन्तिम सत्य हैं। जैसे–जैसे वैज्ञानिक–ज्ञान में प्रगति हो रही है, वैसे–वैसे वैज्ञानिकों की ही पूर्व स्थापित मान्यताएं निरस्त होकर नवीन–नवीन निष्कर्ष एवं मान्यताएं सामने आ रही हैं, अतः आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न पूर्ववर्ती मान्यताओं को पूर्णतः निरर्थक या काल्पनिक कहकर अस्वीकार कर देने में कोई औचित्य है। उचित यही है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो मान्यताएं निर्विवाद रूप से विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही हैं, उन्हें स्वीकार कर लिया जाए, शेष को भावी वैज्ञानिक–परीक्षणों के लिए परिकल्पना के रूप में मान्य किया जाए, क्योंकि धर्मग्रन्थों में उल्लेखित जो घटनाएं एवं मान्यताएं कुछ वर्षों पूर्व तक कपोल–कल्पित लगती थीं, वे आज विज्ञानसम्मत सिद्ध

हो रही हैं। सौ वर्ष पूर्व धर्मग्रन्थों में उल्लेखित आकाशगामी विमानों की बात अथवा दूरस्थ ध्वनियों को सुन पाने और दूरस्थ घटनाओं को देख पाने की बात काल्पनिक लगती थी, किन्तु आज वे यथार्थ बन चुकी हैं।

जैनधर्म की ही ऐसी अनेक मान्यताएं हैं, जो कुछ वर्षों पूर्व तक अवैज्ञानिक व पूर्णतः काल्पनिक लगती थीं, आज विज्ञान से प्रमाणित हो रही हैं, उदाहरण के रूप में– प्रकाश, अन्धकार, ताप, छाया और शब्द आदि पौद्गलिक हैं– जैन आगमों की इस मान्यता पर कोई विश्वास नहीं करता था, किन्तु आज उनकी पौद्गलिकता सिद्ध हो चुकी है। जैन–आगमों का यह कथन है कि शब्द न केवल पौद्गलिक है, अपितु वह ध्वनि रूप में उच्चरित होकर लोकान्त तक की यात्रा करता है– इस तथ्य को कल तक कोई भी स्वीकार नहीं करता था, किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक–खोजों ने अब इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक ध्वनि उच्चरित होने के बाद अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देती है और उसकी यह यात्रा, चाहे अत्यन्त क्षीण रूप में ही क्यों न हो, लोकान्त तक होती है। जैनों की केवलज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि केवली या सर्वज्ञ समस्त लोक के पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जानता है, अथवा अवधिज्ञान सम्बन्धी यह अवधारणा कि अवधिज्ञानी चर्म–चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो रहे, दूरस्थ विषयों का सीधा प्रत्यक्षीकरण कर लेता है– कुछ वर्षों पूर्व तक यह सब कपोलकल्पना ही लगती थी, किन्तु आज जब टेलीविजन का आविष्कार हो चुका है, यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं रही है। जिस प्रकार से ध्वनि की यात्रा होती है, उसी प्रकार से प्रत्येक भौतिक पिण्ड से प्रकाश–किरणें परावर्तित होती हैं और वे भी ध्वनि के समान ही लोक में अपनी यात्रा करती हैं तथा प्रत्येक वस्तु या घटना का चित्र विश्व में संप्रेषित कर देती हैं। आज यदि मानव–मस्तिष्क में टेलीविजन–सेट की ही तरह चित्रों को ग्रहण करने की सामर्थ्य विकसित हो जाए, तो दूरस्थ पदार्थों एवं घटनाओं के हस्तामलकवत् ज्ञान में कोई बाधा नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ से प्रकाश व छाया के रूप में जो किरणें परावर्तित हो रही हैं, वे तो हम सबके पास पहुंच ही रही हैं। आज यदि हमारे चैतन्य मस्तिष्क की ग्रहण–सामर्थ्य विकसित हो जाय, तो दूरस्थ विषयों का ज्ञान असम्भव नहीं है। इससे यह

स्पष्ट होता है कि प्राचीन धार्मिक कहे जाने वाले साहित्य में भी बहुत–कुछ ऐसा है, जो या तो आज विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुका है, अथवा जिसके विज्ञानसम्मृत सिद्ध होने की सम्भावना अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुई है।

अनेक आगम–वचन या सूत्र ऐसे हैं, जो कल तक अवैज्ञानिक प्रतीत होते थे, वे आज वैज्ञानिक प्रतीत हो रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, इन सूत्रों की जो वैज्ञानिक– व्याख्या की गयी, वह अधिक समीचीन प्रतीत होती है। (उदाहरण के रूप में– परमाणुओं के पारस्परिक–बन्धन से स्कन्ध के निर्माण की प्रक्रिया को समझाने हेतु तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय का एक सूत्र आता है– स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। इसमें स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के एक–दूसरे से जुड़कर स्कन्ध बनाने की बात कही गयी है। सामान्य रूप से इसकी व्याख्या यह कहकर ही की जाती थी कि स्निग्ध (चिकने) एवं रूक्ष (खुरदुरे) परमाणु में बन्ध होता है, किन्तु आज जब हम इस सूत्र की वैज्ञानिक–व्याख्या करते हैं कि स्निग्ध अर्थात् धनात्मक–विद्युत् से आवेशित एवं रूक्ष अर्थात् ऋणात्मक–विद्युत् से आवेशित सूक्ष्म–कण, जैन–दर्शन की भाषा में परमाणु, परस्पर मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं, तो तत्त्वार्थसूत्र का यह सूत्र अधिक विज्ञानसम्मत प्रतीत होता है। इसी प्रकार, आचारांगसूत्र में वानस्पतिक–जीवन की प्राणीय–जीवन से जो तुलना की गई है, वह आज अधिक विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रही है। आचारांग का यह कथन है कि वानस्पतिक–जगत् में उसी प्रकार की संवेदनशीलता है, जैसी प्राणी–जगत् में–इस तथ्य को सामान्यतया पाश्चात्य–वैज्ञानिकों की आधुनिक खोजों के पूर्व सत्य नहीं माना जाता था, किन्तु सर जगदीशचन्द्र बसु और अन्य जैव–वैज्ञानिकों ने अब इस तथ्य की पुष्टि कर दी है कि वनस्पति में भी प्राणी–जगत् की तरह ही संवेदनशीलता है, अतः आज आचारांग का कथन विज्ञानसम्मत सिद्ध होता है।

हमें यह बात ध्यान में रखना है कि न तो विज्ञान धर्म का शत्रु है और न धार्मिक– आस्थाओं को खण्डित करना ही उसका उद्देश्य है, यह जिसे खण्डित करता है, वे हमारे तथाकथित धार्मिक–अन्धविश्वास होते हैं, साथ ही हमें यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक–खोजों के परिणामस्वरूप अनेक धार्मिक–अवधारणाएं पुष्ट ही हुई हैं। अनेक धार्मिक आचार–नियम,

जो केवल हमारी शास्त्र के प्रति श्रद्धा के बल पर टिके थे, अब उनकी वैज्ञानिक–उपयोगिता सिद्ध हो रही है।

जैन–परम्परा में रात्रि–भोजन का निषेध एक सामान्य नियम है, चाहे परम्परागत रूप में रात्रि–भोजन के साथ हिंसा की बात जुड़ी हो, किन्तु आज रात्रि–भोजन का निषेध मात्र हिंसा–अहिंसा के आधार पर स्थित न होकर जीव–विज्ञान, चिकित्साशास्त्र और आहारशास्त्र की दृष्टि से अधिक विज्ञानसम्मत सिद्ध हो रहा है। सूर्य के प्रकाश में भोजन के विषाणुओं को नष्ट करने की तथा शरीर में भोजन को पचाने की जो सामर्थ्य होती है, वह रात्रि के अन्धकार में नहीं होती– यह बात विज्ञानसम्मत सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार, सूर्यास्त के बाद भोजन चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से भी अनुचित माना जाने लगा है। चिकित्सकों ने बताया है कि रात्रि में भोजन के बाद अपेक्षित मात्रा में पानी न ग्रहण करने से भोजन का परिपाक सम्यक् रूप से नहीं होता है। यदि व्यक्ति जल की सम्यक् मात्रा का ग्रहण करने का प्रयास करता है, तो उसे बार–बार मूत्र–त्याग के लिए उठना होता है, फलस्वरूप निद्रा भंग होती है। नींद पूरी न होने के कारण वह सुबह देरी से उठता है और इस प्रकार न केवल उसकी प्रातःकालीन दिनचर्या अस्त–व्यस्त होती है, अपितु वह अपने शरीर को भी अनेक विकृतियों का घर बना लेता है।

जैनों में सामान्य रूप से अवधारणा थी कि वे अन्नकण, जो अंकुरित हो रहे हैं, अथवा किसी वृक्ष आदि का वह हिस्सा, जहाँ अंकुरण हो रहा है, वे अनन्तकाय हैं और अनन्तकाय का भक्षण अधिक पापकारी है। आज तक यह एक साधारण सिद्धान्त लगता था, किन्तु आज वैज्ञानिक–गवेषणा के आधार पर यह सिद्ध हो रहा है कि जहाँ भी जीवन के विकास की सम्भावनाएँ हैं, उसके भक्षण या हिंसा से अनन्त जीवों की हिंसा होती है, क्योंकि जीवन के विकास की वह प्रक्रिया कितने जीवों को जन्म देगी– यह बता पाना भी सम्भव नहीं है, यदि हम उसकी हिंसा करते हैं, जीवन की जो नवीन सत धारा चलने वाली थी, उसे ही हम बीच में अवरूद्ध कर देते हैं। इस प्रकार, अनन्त जीवन के विनाश के कर्त्ता सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार, मानव का स्वाभाविक आहार शाकाहार है। मांसाहार

एवं अण्डे आदि के सेवन से कौन–से रोगों की उत्पत्ति होती है आदि तथ्यों की प्रामाणिक–जानकारी आधुनिक वैज्ञानिक–खोजों के द्वारा ही सम्भव हुई है। आज वैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों ने अपनी खोजों के माध्यम से मांसाहार के दोषों की जो विस्तृत विवेचनाएं की हैं, वे सब, जैन–आचारशास्त्र कितना वैज्ञानिक है– इसकी ही पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार, पर्यावरण की शुद्धि के लिए जैन–परम्परा में वनस्पति, जल आदि के अनावश्यक दोहन पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया है, वह आज कितना सार्थक है, यह बात आज हम बिना वैज्ञानिक–खोजों के नहीं समझ सकते। पर्यावरण के महत्त्व के लिए और उसे दूषित होने से बचाने के लिए जैन–आचारशास्त्र की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है, इसकी पुष्टि आज वैज्ञानिक–खोजों के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। आज वैज्ञानिक–ज्ञान के परिणामस्वरूप हम धार्मिक आचार–सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं और इस प्रकार विज्ञान की खोज धर्म के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जैन–धर्म एवं दर्शन की जो बातें कल तक अवैज्ञानिक–सी लगती थीं, आज वैज्ञानिक–खोजों के फलस्वरूप सत्य सिद्ध हो रही हैं, अतः विज्ञान को धर्म व दर्शन का विरोधी न मानकर उसका सम्पूरक ही मानना होगा। आज जब हम जैन–तत्त्वमीमांसा, जैवविज्ञान और आचारशास्त्र की आधुनिक वैज्ञानिक–खोजों के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करते हैं, तो हम यही पाते हैं कि विज्ञान ने जैन–अवधारणाओं की पुष्टि ही की है।

वैज्ञानिक–खोजों के परिणामस्वरूप जो सर्वाधिक प्रश्न–चिह्न लगे हैं, वे जैनधर्म की खगोल व भूगोल–सम्बन्धी मान्यताओं पर हैं। यह सत्य है कि खगोल व भूगोल– सम्बन्धी जैन–अवधारणाएं आज की वैज्ञानिक–खोजों से भिन्न पड़ती हैं और आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनका समीकरण बैठा पाना भी कठिन है। यहाँ सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या जैन– खगोल व भूगोल सर्वज्ञप्रणीत है या सर्वज्ञ की वाणी है? इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार की आवश्यकता है। सर्वप्रथम तो हमें जान ले ा चाहिए कि जैन–खगोल व भूगोल संबंधी विवरण स्थानांग, समवायांग एवं भगवती को छोड़कर अन्य अंग–आगमों में कहीं भी उल्लेखित नहीं है।

स्थानांग और समवायांग में भी वे सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादित नहीं हैं, मात्र संख्या के संदर्भ–क्रम में उनकी सम्बन्धित संख्याओं का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे भी, जहाँ तक विद्वानों का प्रश्न है, वे इन्हें संकलनात्मक एवं अपेक्षाकृत परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं, साथ ही, यह भी मानते हैं कि इनमें समय–समय पर सामग्री प्रक्षिप्त होती रही है, अतः उनका वर्त्तमान स्वरूप पूर्णतः जिन–प्रणीत नहीं कहा जा सकता है। जैन–खगोल व भूगोल सम्बन्धी जो अवधारणाएं उपलब्ध हैं, उनका आगमिक–आधार चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एवं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति है, जिन्हें वर्त्तमान में उपांग के रूप में मान्य किया जाता है, किन्तु नन्दीसूत्र की सूची के अनुसार ये ग्रन्थ आवश्यक व्यतिरिक्त अंग–बाह्य आगमों में परिगणित किय जाते हैं। परम्परागत–दृष्टि से अंग–बाह्य आगमों के उपदेष्टा एवं रचयिता जिन न होकर स्थविर ही माने गये हैं और इससे यह फलित होता है कि ये ग्रन्थ सर्वज्ञप्रणीत न होकर छद्मस्थ जैन–आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, अतः यदि इनमें प्रतिपादित तथ्य आधुनिक विज्ञान के प्रतिकूल जाते हैं, तो उससे सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच नहीं आती है। हमें इस भय का परित्यार्ग कर देना चाहिए कि यदि हम खगोल एवं भूगोल के सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक–गवेषणाओं को मान्य करेंगे, तो उससे जिन की सर्वज्ञता पर कोई आंच आयेगी। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि सर्वज्ञ या जिन केवल उपदेश देते हैं, ग्रन्थ–लेखन का कार्य तो उनके गणधर या अन्य स्थविर आचार्य ही करते हैं, साथ ही, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सर्वज्ञ के लिए उपदेश का विषय तो अध्यात्म व आचारशास्त्र ही होता है, खगोल व भूगोल उनके मूल प्रतिपाद्य नहीं हैं। खगोल व भूगोल–सम्बन्धी जो अवधारणाएं जैन–परम्परा में मिलती हैं, वे थोड़े अन्तर के साथ समकालिक बौद्ध एवं हिन्दू–परम्परा में भी पायी जाती हैं, अतः यह मानना ही उचित होगा कि खगोल एवं भूगोल–सम्बन्धी जैन–मान्यताएँ आज यदि विज्ञान–सम्मत सिद्ध नहीं होती हैं, तो उससे न तो सर्वज्ञ की सर्वज्ञता पर आँच आती है और न जैनधर्म की आध्यात्मशास्त्रीय, तत्त्वमीमांसीय एवं आचारशास्त्रीय–अवधारणाओं पर कोई खरोंच आती है। सूर्यप्रज्ञप्ति जैसा ग्रन्थ, जिसमें जैन–आचारशास्त्र और उसकी अहिंसक निष्ठा के विरुद्ध प्रतिपादन पाये जाते हैं, किसी भी

स्थिति में सर्वज्ञ–प्रणीत नहीं माना जा सकता है। जो लोग खगोल–भूगोल सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्यों को केवल इसलिए स्वीकार करने से कतराते हैं कि इससे सर्वज्ञ की अवहेलना होगी, वे वस्तुतः जैन–आध्यात्मशास्त्र के रहस्यों से या तो अनभिज्ञ हैं, या उनकी अनुभूति से रहित है, क्योंकि हमें सर्वप्रथम तो यह स्मरण रखना होगा कि जो आत्म–द्रष्टा सर्वज्ञप्रणीत है ही नहीं, उसके अमान्य होने से सर्वज्ञ की सर्वज्ञता कैसे खण्डित हो सकती है? आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वज्ञ आत्मा को जानता है– यही यथार्थ/सत्य है। सर्वज्ञ बाह्य–जगत् को जानता है– यह केवल व्यवहार है। भगवतीसूत्र का यह कथन भी कि 'केवली सिय जाणइ सिय ण जाणइ'– इस सत्य को उद्घाटित करता है कि सर्वज्ञ आत्मद्रष्टा होता है। वस्तुतः, सर्वज्ञ का उपदेश भी आत्मानुभूति और आत्म–विशुद्धि के लिए होता है। जिन साधनों से हम शुद्धात्मा की अनुभूति कर सकें, आत्मशुद्धि या आत्मविमुक्ति को उपलब्ध कर सकें, वही सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपाद्य है।

यह सत्य है कि आगमों के रूप में हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें जिन– वचन भी संकलित हैं और यह भी सत्य है कि आगमों का और उनमें उपलब्ध सामग्री का जैनधर्म, प्राकृत–साहित्य और भारतीय–इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्व है, फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों के नाम पर हमारे पास जो कुछ उपलब्ध है, उसमें पर्याप्त विस्मरण, परिवर्तन, परिवर्द्धन और प्रक्षेपण भी हुआ है, अतः इस तथ्य को स्वयं अन्तिम वाचनाकार देवर्द्धि ने भी स्वीकार किया है। अतः, आगम–वचनों में कितना अंश जिन–वचन हैं– इस सम्बन्ध में पर्याप्त समीक्षा, सतर्कता और सावधानी आवश्यक है।

आज दो प्रकार की अतियाँ देखने में आती हैं– एक अति यह है कि चाहे पन्द्रहवीं शती के लेखक ने महावीर–गौतम के संवाद के रूप में किसी ग्रन्थ की रचना की हो, उसे भी बिना समीक्षा के जिन–वचन के रूप में मान्य किया जा रहा है और उसे ही चरम सत्य माना जाता है, दूसरी ओर, सम्पूर्ण आगम–साहित्य को अन्धविश्वास कहकर नकारा जा रहा है। आज आवश्यकता है नीर–क्षीर–बुद्धि से आगम–वचनों की समीक्षा करके

मध्यम–मार्ग अपनाने की।

आज न तो विज्ञान ही चरम सत्य है और न आगम के नाम पर जो कुछ है, वही चरम सत्य है। आज न तो आगमों को नकारने से कुछ होगा और न वैज्ञानिक–सत्यों को नकारने से। विज्ञान और आगम के सन्दर्भ में आज एक तटस्थ समीक्षक–बुद्धि की आवश्यकता है।

जैन–सृष्टिशास्त्र और जैन–खगोल–भूगोल में भी, जहाँ तक सृष्टिशास्त्र का सम्बन्ध है, वह आधुनिक वैज्ञानिक–अवधारणाओं के साथ एक सीमा तक संगति रखता है। जैन–सृष्टिशास्त्र के अनुसार, सर्वप्रथम इस जगत् को अनादि और अनन्त माना गया है, किन्तु उसमें जगत् की अनादि–अनन्तता उसके प्रवाह की दृष्टि से है। इसे अनादि–अनन्त इसलिए कहा जाता है कि कोई भी काल ऐसा नहीं था, जब सृष्टि नहीं थी या नहीं होगी। प्रवाह की दृष्टि से जगत् अनादि–अनन्त होते हुए भी इसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश अर्थात् सृष्टि और प्रलय का क्रम भी चलता रहता है, दूसरे शब्दों में, यह जगत् अपने प्रवाह की अपेक्षा से शाश्वत होते हुए भी इसमें सृष्टि एवं प्रलय होते रहते हैं, क्योंकि जो भी उत्पन्न होता है, उसका विनाश अपरिहार्य है। फिर भी, उसका सृष्टा या कर्त्ता कोई भी नहीं है। यह सब प्राकृतिक–नियम से ही शासित है। यदि वैज्ञानिक–दृष्टि से इस पर विचार करें, तो विज्ञान को भी इस तथ्य को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि यह विश्व अपने मूल तत्त्व या मूल घटक की दृष्टि से अनादि–अनन्त होते हुए भी इसमें सृजन और विनाश की प्रक्रिया सत् रूप से चल रही है। यहाँ तक विज्ञान व जैनदर्शन– दोनों साथ जाते हैं। दोनों इस संबंध में भी एकमत हैं कि जगत् का कोई सृष्टा नहीं है और यह प्राकृतिक–नियम से शासित है, साथ ही, अनन्त विश्व में सृष्टि–लोक की सीमितता जैन–दर्शन एवं विज्ञान– दोनों को मान्य है। इन मूल–भूत अवधारणाओं में साम्यता के होते हुए भी जब हम इनमें विस्तार में जाते हैं, तो हमें जैन–आगमिक–मान्यताओं एवं आधुनिक विज्ञान– दोनों में पर्याप्त अन्तर भी प्रतीत होता है।

अधोलोक, मध्यलोक एवं स्वर्गलोक की कल्पना लगभग सभी धर्म–दर्शनों में उपलब्ध होती है, किन्तु आधुनिक विज्ञान के द्वारा खगोल

का जो विवरण प्रस्तुत किया जाता है, उसमें इस प्रकार की कोई कल्पना नहीं है। वह यह भी नहीं मानता है कि पृथ्वी के नीचे नरक व ऊपर स्वर्ग है। आधुनिक खगोल–विज्ञान के अनुसार, इस विश्व में असंख्य सौरमण्डल हैं और प्रत्येक सौरमण्डल में अनेक ग्रह–नक्षत्र व पृथ्वियां हैं। असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र की अवधारणा जैन–परम्परा में भी मान्य है। यद्यपि आज तक विज्ञान यह सिद्ध नहीं कर पाया है कि पृथ्वी के अतिरिक्त किन ग्रह–नक्षत्रों पर जीवन पाया जाता है, किन्तु उसने इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक ऐसे ग्रह–नक्षत्र हो सकते हैं, जहाँ जीवन की संभावनाएं हैं, अतः इस विश्व में जीवन केवल पृथ्वी पर है– यह भी चरम सत्य नहीं है। पृथ्वी के अतिरिक्त कुछ ग्रह–नक्षत्रों पर जीवन की संभावनाएं हो सकती हैं। यह भी संभव है कि पृथ्वी की अपेक्षा कहीं जीवन अधिक सुखद एवं समृद्ध हो और कहीं यह विपन्न और कष्टकर स्थिति में हो, अतः चाहे स्वर्ग एवं नरक और खगोल एवं भूगोल–सम्बन्धी हमारी अवधारणाओं पर वैज्ञानिक–खोजों के परिणामस्वरूप प्रश्नचिह्न लगें, किन्तु इस पृथ्वी के अतिरिक्त इस विश्व में कहीं भी जीवन की संभावना नहीं है– यह बात तो स्वयं वैज्ञानिक भी नहीं कहते हैं। पृथ्वी के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के अन्य ग्रह–नक्षत्रों पर जीवन की सम्भावनाओं को स्वीकार करने के साथ ही प्रकारान्तर से स्वर्ग एवं नरक की अवधारणाएं भी स्थान पा जाती हैं। उड़नतश्तरियों सम्बन्धी जो भी खोजें हुई हैं, उससे इतना तो निश्चित सिद्ध ही होता है कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य ग्रह–नक्षत्रों पर भी जीवन है और वह पृथ्वी से अपना सम्पर्क बनाने के लिए प्रयत्नशील भी है। उड़न–तश्तरियों के प्राणियों का यहाँ आना व स्वर्ग से देव लोगों की आने की परम्परागत कथा में कोई बहुत अन्तर नहीं है, अतः जो परलोक– सम्बन्धी अवधारणा उपलब्ध होती है, वह अभी पूर्णतया निरस्त नहीं की जा सकती, हो सकता है कि वैज्ञानिक–खोजों के परिणामस्वरूप ही एक दिन पुनर्जन्म व लोकोत्तर–जीवन की कल्पनाएं यथार्थ सिद्ध हो सकें।

जैन–परम्परा में लोक को षड्द्रव्यमय कहा गया है। ये षड्द्रव्य निम्न हैं– जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल। इनमें से जीवन

(आत्मा), धर्म, अधर्म, आकाश व पुद्गल– ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि ये प्रसारित हैं। दूसरे शब्दों में, जिसका आकाश में विस्तार होता है, वह अस्तिकाय कहलाता है। षड्द्रव्यों में मात्र काल को अनस्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इसका प्रसार बहुआयामी न होकर एकरेखीय है। यहाँ हम सर्वप्रथम तो यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षड्द्रव्यों की जो अवधारणा है, वह किस सीमा तक आधुनिक विज्ञान के साथ संगति रखती है।

षड्द्रव्यों में सर्वप्रथम हम जीव के सन्दर्भ में विचार करेंगे। चाहे विज्ञान आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न करता हो, किन्तु वह जीवन के अस्तित्व से इंकार भी नहीं करता है, क्योंकि जीवन की उपस्थिति एक अनुभूत तथ्य है। चाहे विज्ञान एक अमर आत्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं करे, लेकिन वह जीवन एवं उसके विविध रूपों से इंकार नहीं कर सकता है। जीव–विज्ञान का आधार ही जीवन के अस्तित्व की स्वीकृति पर अवस्थित है। मात्र इतना ही नहीं, अब वैज्ञानिकों ने अतीन्द्रिय–ज्ञान तथा पुनर्जन्म के सन्दर्भ में भी अपनी शोध–यात्रा प्रारम्भ कर दी है। विचार–सम्प्रेषण या टेलीपैथी का सिद्धान्त अब वैज्ञानिकों की रुचि का विषय बनता जा रहा है और इस सम्बन्ध में हुई खोजों के परिणाम अतीन्द्रिय–ज्ञान की सम्भावना को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार, पुनर्जन्म की अवधारणा के सन्दर्भ में भी अनेक खोजें हुई हैं। अब अनेक ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जिनकी व्याख्याएं पुनर्जन्म एवं अतीन्द्रिय ज्ञान–शक्ति को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। अब विज्ञान जीवन–धारा की निरन्तरता और उसकी अतीन्द्रिय शक्तियों से अपरिचित नहीं है, चाहे अभी वह उनकी वैज्ञानिक–व्याख्याएं प्रस्तुत न कर पाया हो। मात्र इतना ही नहीं, अनेक प्राणियों में मानव की अपेक्षा भी अनेक क्षेत्रों में इतनी अधिक ऐन्द्रिकज्ञान– सामर्थ्य होती है, जिस पर सामान्य बुद्धि विश्वास नहीं करती है, किन्तु उसे अब आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है। अतः, इस विश्व में जीवन का अस्तित्व है और वह जीवन अनन्त शक्तियों का पुंज है– इस तथ्य से अब वैज्ञानिकों का विरोध नहीं है।

जहाँ तक भौतिक–तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप का प्रश्न है,

वैज्ञानिकों एवं जैन–आचार्यों में अधिक मतभेद नहीं हैं। परमाणु या पुद्गल कणों में जिस अनन्तशक्ति का निर्देश जैन–आचार्यों ने किया था, वह अब आधुनिक वैज्ञानिक–अन्वेषणों से सिद्ध हो रही है। आधुनिक वैज्ञानिक इस तथ्य को सिद्ध कर चुके हैं कि एक परमाणु का विस्फोट भी कितनी अधिक शक्ति का सृजन कर सकता है। वैसे भी, भौतिक–पिण्ड या पुद्गल की अवधारणा ऐसी है, जिस पर वैज्ञानिकों एवं जैन–विचारकों में कोई अधिक मतभेद नहीं देखा जाता। परमाणुओं के द्वारा स्कन्ध की रचना का जैन–सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक है– इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। विज्ञान जिसे परमाणु कहता था, वह अब टूट चुका है, वास्तविकता तो यह है कि विज्ञान ने जिसे परमाणु मान लिया था, वह परमाणु था ही नहीं, वह तो स्कन्ध ही था, क्योंकि जैनों की परमाणु की परिभाषा यह है कि जिसका विभाजन नहीं हो सके, ऐसा भौतिक–तत्त्व परमाणु है। इस प्रकार, आज हम देखते हैं कि विज्ञान का तथाकथित परमाणु खण्डित हो चुका है, जबकि जैन–दर्शन का परमाणु अभी वैज्ञानिकों की पकड़ में आ ही नहीं पाया है। वस्तुतः, जैन–दर्शन में जिसे परमाणु कहा जाता है, उसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने क्वार्क नाम दिया है और वे आज भी उसकी खोज में लगे हुए हैं। समकालीन भौतिकी–विदों की क्वार्क की परिभाषा यह है कि जो विश्व का सरलतम और अन्तिम घट है, वही क्वार्क है। आज भी क्वार्क को व्याख्यायित करने में वैज्ञानिक सफल नहीं हो पाये हैं।

आधुनिक विज्ञान प्राचीन अवधारणाओं को सम्पुष्ट करने में किस प्रकार सहायक हुआ है, उसका एक उदाहरण यह है कि जैन–तत्त्व–मीमांसा में एक ओर यह अवधारणा रही है कि एक पुद्गल–परमाणु जितनी जगह घेरता है, वह एक आकाश–प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में, मान्यता यह है कि एक आकाश–प्रदेश में एक परमाणु ही रह सकता है, किन्तु दूसरी ओर, आगमों में यह भी उल्लेख है कि एक आकाशप्रदेश में असंख्यात पुद्गल–परमाणु समा सकते हैं। इस विरोधाभास का सीधा समाधान हमारे पास नहीं था, लेकिन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कुछ ऐसे ठोस द्रव्य हैं, जिनका एक वर्ग इंच का वजन लगभग आठ सौ टन होता है। इससे यह भी फलित होता है कि जिन्हें हम ठोस

समझते हैं, वे वस्तुतः कितने पोले हैं। अतः, सूक्ष्म अवगाहन– शक्ति के कारण यह संभव है कि एक ही आकाश–प्रदेश में अनन्त परमाणु भी समाहित हो जाएं।

धर्म–द्रव्य एवं अधर्म–द्रव्य की जैन–अवधारणा भी आज वैज्ञानिक–सन्दर्भ में अपनी व्याख्याओं की अपेक्षाएँ रखती हैं। जैन–परम्परा में धर्मास्तिकाय को न केवल एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है, अपितु ध र्मास्तिकाय के अभाव में जड़ व चेतन– किसी की भी गति संभव नहीं होगी– ऐसा भी माना गया है। यद्यपि जैन–दर्शन में धर्मास्तिकाय को अमूर्त्त–द्रव्य कहा गया है, किन्तु अमूर्त्त होते हुए भी यह विश्व का महत्वपूर्ण घटक है। यदि विश्व में धर्म–द्रव्य एवं अधर्म–द्रव्य, जिन्हें दूसरे शब्दों में हम गति व स्थिति के नियामक–तत्त्व कह सकते हैं, न होंगे, तो विश्व का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा, क्योंकि जहाँ अधर्म–द्रव्य विश्व की वस्तुओं की स्थिति को सम्भव बताता है और पुद्गल–पिण्डों को अनन्त आकाश में बिखरने से रोकता है, वहीं धर्म–द्रव्य उनकी गति को सम्भव बनाता है। गति एवं स्थिति– यही विश्व–व्यवस्था का मूल आधार है।

यदि विश्व में गति एवं स्थिति संभव न हो, तो विश्व नहीं हो सकता है। गति के नियमन के लिये स्थिति एवं स्थिति की जड़ता को तोड़ने के लिए गति आवश्यक है। यद्यपि जड़ व चेतन में स्वयं गति करने एवं स्थित रहने की क्षमता है, किन्तु उनकी यह क्षमता कार्य के रूप में तभी परिणत होगी, जब विश्व में गति और स्थिति के नियामक– तत्त्व या कोई माध्यम हो। जैन–दर्शन के धर्म–द्रव्य व अधर्म–द्रव्य को आज विज्ञान की भाषा में ईथर एवं गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के नाम से भी जाना जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि धर्म–द्रव्य नाम की वस्तु है, तो उसके अस्तित्व को कैसे जाना जायेगा? वैज्ञानिकों ने जो ईथर की कल्पना की है, उसे हम जैन–धर्म की भाषा में धर्मद्रव्य कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार, ईथर को स्वीकार नहीं करते हैं, तो प्रश्न उठता है कि प्रकाश–किरणों की यात्रा का माध्यम क्या है? यदि प्रकाश–किरणें यथार्थ में किरणें हैं, तो उसका परावर्तन किसी माध्यम से ही सम्भव होगा और जिसमें ये प्रकाश–किरणें परावर्तित होती हैं, वह भौतिक पिण्ड नहीं, अपितु ईश्वर ही

है। यदि मात्र आकाश हो, किन्तु ईथर न हो, तो कोई गति सम्भव नहीं होगी। किसी भी प्रकार की गति के लिए कोई–न–कोई माध्यम आवश्यक है, जैसे मछली को तैरने के लिए जल। इसी गति के माध्यम को विज्ञान ईथर और जैन–दर्शन धर्म–द्रव्य कहता है।

साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि विश्व में केवल गति ही नहीं है, अपितु स्थिति भी है। जिस प्रकार गति का नियामक–तत्त्व आवश्यक है, उसी प्रकार से स्थिति का भी नियामक–तत्त्व आवश्यक है। विज्ञान इसे गुरुत्वाकर्षण के नाम से जानता है, जैन–दर्शन उसे ही अधर्म–द्रव्य कहता है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में अधर्म–द्रव्य को विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक माना जाता है। यदि अधर्म–द्रव्य न हो और केवल अनन्त आकाश और गति ही हो, तो समस्त पुद्गल–पिण्ड अनन्त आकाश में छितर जाएंगे और विश्व–व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। अधर्म–द्रव्य एक नियामक–शक्ति है, जो एक स्थिर विश्व के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में एक ऐसी अव्यवस्था होगी कि विश्व विश्व ही न रह जायेगा। आज जो आकाशीय–पिण्ड अपने–अपने यात्रा पथ में अवस्थित रहते हैं–जैनों के अनुसार, उसका कारण अधर्म–द्रव्य है, तो विज्ञान के अनुसार उसका कारण गुरुत्वाकर्षण है।

इसी प्रकार, आकाश की सत्ता भी स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आकाश के अभाव में अन्य द्रव्य किसमें रहेंगे? जैनों के अनुसार, आकाश मात्र एक शून्यता नहीं, अपितु वास्तविकता है। क्योंकि लोक आकाश में ही अवस्थित है, अतः जैनाचार्यों ने आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश– ऐसे भागों की कल्पना की। लोक जिसमें अवस्थित है, वही लोकाकाश है।

इसी अनन्त आकाश के एक भाग–विशेष अर्थात् लोकाकाश में अवस्थित होने के कारण लोक को सीमित कहा जाता है, किन्तु उसकी यह सीमितता आकाश की अनन्तता की अपेक्षा से ही है। वैसे, जैन–आचार्यों ने लोक का परिणाम चौदह राजू माना है, जो कि वैज्ञानिकों के प्रकाशवर्ष के समान एक प्रकार का माप–विशेष है। यह लोक नीचे चौड़ा, मध्य में पतला, पुनः ऊपरी भाग के मध्य में चौड़ा व अन्त में पतला है। इसके

आकार की तुलना कमर पर हाथ रखे खड़े हुए पुरुष के आकार से की जाती है। इस लोक के अधोभाग में सात नरकों की अवस्थिति मानी गयी है– प्रथम नरक से ऊपर और मध्यलोक से नीचे बीच में भवनपति देवों का आवास है। इस लोक के मध्य–भाग में मनुष्यों एवं तिर्यंचों का आवास है, इसे मध्यलोक या तिर्यक्–लोक कहते हैं। तिर्यक्–लोक के मध्य में मेरु–पर्वत है, उसके आस–पास का समुद्रपर्यन्त भू–भाग जम्बूद्वीप के नाम से जाना जाता है, यह गोलाकार है। उसे वलयाकार लवण–समुद्र घेरे हुए है। लवण–समुद्र को वलयाकार में घेरे हुए धातकी–खण्ड है। उसको वलयाकार में घेरे हुए कालोदधि नामक समुद्र है। उसको पुनः वलयाकार में घेरे हुए पुष्कर–द्वीप है। उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर–समुद्र है। इसके पश्चात्, अनुक्रम से एक के बाद एक वलयाकार में एक–दूसरे को घेरे हुए असंख्यात् द्वीप एवं समुद्र हैं। ज्ञातव्य है कि हिन्दू–परम्परा में मात्र सात द्वीपों एवं समुद्रों की कल्पना है, जिसकी जैनआगमों में आलोचना की गई है, किन्तु जहाँ तक मानव–जाति का प्रश्न है, वह केवल जम्बूद्वीप, धातकी–खण्ड और पुष्करावर्त्त–द्वीप के अर्द्धभाग में ही उपलब्ध होती है, उसके आगे मानव–जाति का अभाव है। इस मध्यलोक या भूलोक से ऊपर आकाश में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारों के आवास या विमान हैं। यह क्षेत्र ज्योतिषिक–देव–क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि मेरुपर्वत को केन्द्र बनाकर प्रदक्षिणा करते हैं। इस क्षेत्र के ऊपर श्वेताम्बर–मान्यतानुसार क्रमशः बारह अथवा दिगम्बर–मतानुसार सोलह स्वर्ग या देवलोक हैं। उनके ऊपर क्रमशः नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर–विमान हैं। लोक के ऊपरी अन्तिम भाग को सिद्धक्षेत्र या लोकाग्र कहते हैं, यहाँ सिद्धों या मुक्त आत्माओं का निवास है। यद्यपि सभी धर्म–परम्पराओं में भूलोक के नीचे नरक या पाताल–लोक और ऊपर स्वर्ग की कल्पना समान रूप से पायी जाती है, किन्तु उनकी संख्या आदि के प्रश्न पर विभिन्न परम्पराओं में मतभेद देखा जाता है। खगोल एवं भूगोल का जैनों का यह विवरण आधुनिक विज्ञान से कितना संगत अथवा असंगत है? यह निष्कर्ष निकाल पाना सहज नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री यशोदेवसूरिजी ने संग्रहणीरत्न–प्रकरण की भूमिका

में विचार किया है, अतः इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर पाठकों को उसे आचार्यश्री की गुजराती भूमिका एवं हिन्दी व्याख्या में देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

खगोल–भूगोल सम्बन्धी जैन–अवधारणा का अन्य धर्मों की अवधारणाओं से एवं आधुनिक विज्ञान की अवधारणा से क्या सम्बन्ध है– यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में हमें दो प्रकार के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। जहाँ विभिन्न धर्मों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि को देव के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं आधुनिक विज्ञान में वे अनन्ताकाश में बिखरे हुए भौतिक–पिण्ड ही हैं। धर्म उनमें देवत्व का आरोपण करता है, किन्तु विज्ञान उन्हें मात्र एक भौतिक–संरचना मानता है। जैन–दृष्टि में इन दोनों अवधारणाओं का एक समन्वय देखा जाता है। जैन–विचारक यह मानते हैं कि जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि मानते हैं, वह उनके विमानों से निकलने वाला प्रकाश है। ये विमान सूर्य, चन्द्र आदि देवों के आवासीय–स्थल हैं, जिनमें उस नाम वाले देवगण निवास करते हैं।

इस प्रकार, जैन–विचारकों ने सूर्य–विमान चन्द्र–विमान आदि को भौतिक–संरचना के रूप में स्वीकार किया है और उन विमानों में निवास करने वालों को देव बताया। इसका फलित यह है कि जैन–विचारक वैज्ञानिक–दृष्टि तो रखते थे, किन्तु परम्परागत धार्मिक–मान्यताओं को भी ठुकराना नहीं चाहते थे, इसीलिए उन्होंने दोनों अवधारणाओं के बीच एक समन्वय करने का प्रयास किया है।

जैन–ज्योतिषशास्त्र की विशेषता है कि वह भी वैज्ञानिकों के समान इस ब्रह्माण्ड में असंख्य सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों का अस्तित्व मानता है। उनकी मान्यता है कि जंबूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, लवण–समुद्र में चार सूर्य व चार चन्द्रमा हैं। धातकी–खण्ड में आठ सूर्य व आठ चन्द्रमा हैं। इस प्रकार, प्रत्येक द्वीप व समुंद्र में सूर्य व चन्द्रमाओं की संख्या द्विगुणित होती जाती है।

जहाँ तक आधुनिक खगोल–विज्ञान का प्रश्न है, वह अनेक सूर्य व चंद्र की अवधारणा को स्वीकार करता है, फिर भी सूर्य, चन्द्र आदि के क्रम एवं मार्ग, उनका आकार एवं उनकी पारस्परिक–दूरी आदि के सम्बन्ध में

आधुनिक खगोल–विज्ञान एवं जैन–आगमिक–मान्यताओं में स्पष्ट रूप से अन्तर देखा जाता है। सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण आदि की अवस्थिति–सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर भी जैनधर्म–दर्शन व आधुनिक विज्ञान में मतैक्य नहीं है। जहाँ आधुनिक खगोल–विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी के अधिक निकट एवं सूर्य दूरी पर है, वहाँ जैन–ज्योतिष–शास्त्र में सूर्य को निकट व चन्द्रमा को दूर बताया गया है। जहाँ आधुनिक विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा का आकार सूर्य की अपेक्षा छोटा बताया गया, वहाँ जैन–परम्परा में सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा को बृहत् आकार का माना गया है। इस प्रकार, अवधारणागत दृष्टि से कुछ निकटता होकर भी दोनों में भिन्नता ही अधिक देखी जाती है।

जो स्थिति जैन–खगोल एवं आधुनिक खगोल–विज्ञान–संबंधी मान्यताओं में मतभेद की है, वही स्थिति प्रायः जैन–भूगोल और आधुनिक–भूगोल की है। इस भूमण्डल पर मानव–जाति के अस्तित्व की दृष्टि से ढाई द्वीपों की कल्पना की गयी है– जम्बूद्वीप, धातकी–खण्ड और पुष्करार्द्ध। जैसा कि हमने पूर्व में बताया है कि जैन–मान्यता के अनुसार मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो कि गोलाकार है, उसके आस–पास उससे द्विगुणित क्षेत्रफल वाला लवण–समुद्र है, फिर लवणसमुद्र से द्विगुणित क्षेत्रफल वाला वलयाकार धातकी खण्ड है। धातकी–खण्ड के आगे पुनः क्षीरसमुद्र है, जो क्षेत्रफल में जम्बूद्वीप से आठ गुणा बड़ा है, उसके आगे पुनः वलयाकार में पुष्कर–द्वीप है, जिसके आधे भाग में मनुष्यों का निवास है। इस प्रकार, एक–दूसरे से द्विगुणित क्षेत्रफल वाले असंख्य द्वीप–समुद्र वलयाकार में अवस्थित हैं। यदि हम जैन–भूगोल की अढ़ाई द्वीप की इस कल्पना को आधुनिक भूगोल की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें, तो हम कह सकते हैं कि आज भी स्थल रूप में एक से जुड़े हुए अफ्रीका, यूरोप व एशिया, जो किसी समय एक–दूसरे से सटे हुए थे, मिलकर जम्बूद्वीप की कल्पना को साकार करते हैं। ज्ञातव्य है कि किसी प्राचीन जमाने में पश्चिम में वर्त्तमान अफ्रीका और पूर्व में जावा, सुमात्रा एवं आस्ट्रेलिया आदि एशिया महाद्वीप से सटे हुए थे, जो गोलाकार महाद्वीप की रचना करते थे। यही गोलाकार महाद्वीप जम्बूद्वीप के नाम से *जाना*

जाता था। उसके चारों ओर के समुद्र को घेरे हुए उत्तरी अमेरिका व दक्षिणी अमेरिका की स्थिति आती है। यदि हम पृथ्वी को सपाट मानकर इस अवधारणा पर विचार करें, तो उत्तर–दक्षिण अमेरिका मिलकर इस जम्बूद्वीप को वलयाकार रूप में घेरे हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार, मोटे रूप में अढ़ाई द्वीप की जो कल्पना है, यह सिद्ध तो हो जाती है, फिर भी जैनों ने जम्बूद्वीप आदि में जो ऐरावत, महाविदेह क्षेत्रों आदि की कल्पना की है, वह आधुनिक भूगोल से अधिक संगत नहीं बैठती है। वास्तविकता यह है कि प्राचीन भूगोल, जो जैन, बौद्ध व हिन्दुओं में लगभग समान रहा है, उसकी सामान्य निरीक्षणों के आधार पर ही कल्पना की गई थी, फिर भी उसे पूर्णतः असत्य नहीं कहा जा सकता।

आज हमें यह सिद्ध करना है कि विज्ञान धार्मिक–आस्थाओं का संहारक नहीं, पोषक भी हो सकता है। आज यह दायित्व उन वैज्ञानिकों का एवं उन धार्मिकों का है, जो विज्ञान व धर्म को परस्पर विरोधी मान बैठें हैं, उन्हें यह दिखाना होगा कि विज्ञान व धर्म एक–दूसरे के संहारक नहीं, अपितु पोषक हैं। यह सत्य है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं, जो वैज्ञानिक–ज्ञान के कारण ध्वस्त हो चुकी हैं, लेकिन इस संबंध में हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो हमें यह निश्चित करना होगा कि धर्म का संबंध केवल मानवीय जीवन–मूल्यों से है, खगोल के वे तथ्य, जो आज वैज्ञानिक–अवधारणा के विराध में हैं, उनका धर्म व दर्शन से कोई सीधा संबंध नहीं है, अतः उनके अवैज्ञानिक सिद्ध होने पर भी धर्म अवैज्ञानिक सिद्ध नहीं होता। हमें यह ध्यान रखना होगा कि धर्म के नाम पर जो अनेक मान्यताएं आरोपित कर दी गयी हैं, वे सब धर्म का अनिवार्य अंग नहीं हैं। अनेक तथ्य ऐसे हैं, जो केवल लोक–व्यवहार के कारण धर्म से जुड़ गये हैं।

आज उनके यथार्थ स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। भरतक्षेत्र कितना लंबा–चौड़ा है? मेरु–पर्वत की ऊँचाई क्या है ? उनके ऊपर कौन है? आदि। ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका धर्म व साधना से कोई संबंध नहीं है। हम देखते हैं कि न केवल जैन–परंपरा में, अपितु बौद्ध व ब्राह्मण–परम्परा में भी ये मान्यताएं समान रूप से प्रचलित रही हैं। एक

तथ्य और हमें समझ लेना होगा, वह यह कि तीर्थंकर या आप्त–पुरुष केवल हमारे बंधन व मुक्ति के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। वे मनुष्य की नैतिक–कमियों को इंगित करके वह मार्ग बताते हैं, जिससे नैतिक–कमजोरियों पर या वासनामय जीवन पर विजय पायी जा सके। उनके उपदेशों का मुख्य संबंध व्यक्ति के आध्यात्मिक–विकास, सदाचार तथा सामाजिक–जीवन में शान्ति व सहअस्तित्व के मूल्यों पर बल देने के लिए होता है, अतः सर्वज्ञ के नाम पर कही जाने वाली सभी मान्यताएं सर्वज्ञप्रणीत हैं– ऐसा नहीं है। कालक्रम में ऐसी अनेक मान्यताएँ आयीं, जिन्हें बाद में सर्वज्ञप्रणीत कहा गया। जैन–धर्म में खगोल व भूगोल की मान्यताएं भी किसी अंश में इसी प्रकार की हैं। पुनः, विज्ञान कभी अपनी अंतिमता का दावा नहीं करता है, अतः कल तक जो अवैज्ञानिक कहा जाता था, वह नवीन वैज्ञानिक–खोजों से सत्य सिद्ध हो सकता है। आज न तो विज्ञान से भयभीत होने की आवश्यकता है और न उसे नकारने की आवश्यकता है– विज्ञान और अध्यात्म के रिश्ते के सही मूल्यांकन की।

आस्रव–तत्त्व

जैन–दृष्टिकोण– आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। क्लेश या मल ही कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा के सम्पर्क में आने का कारण है, अतः जैन-तत्त्वज्ञान में आस्रव का रूढ अर्थ यह भी हुआ कि कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना आस्रव है। अपने मूल अर्थ में आस्रव उन कारकों की व्या'या करता है, जो कर्मवर्गणाओं को आत्मा की ओर लाते हैं और इस प्रकार आत्मा के बन्धन के कारण होते हैं। आस्रव के दो भेद हैं-(1) भावास्रव और (2) द्रव्यास्रव। आत्मा की विकारी-मनोदशा भावास्रव है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है। इस प्रकार, भावास्रव कारण है और द्रव्यास्रव कार्य या प्रकि या है। द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है, लेकिन यह भावात्मक-परिवर्तन भी अकारण नहीं है, वरन् पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। इस प्रकार, पूर्व-बन्धन के कारण भावास्रव और भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रव से कर्म का बन्धन होता है।

वैसे, सामान्य रूप में मानसिक, वाचिक एवं कायिक-प्रवृत्तियाँ ही आस्रव

हैं। ये प्रवृत्तियाँ या किं याएँ दो प्रकार की होती हैं, शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्य-कर्म का आस्रव हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप-कर्म का आस्रव हैं। उन सभी मानसिक एवं कायिक-प्रवृत्तियों का, जो आस्रव कही जाती हैं, विस्तृत विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। जैनागमों में इनका वर्गीकरण अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से मिलता है। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर एक वर्गीकरण प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त होगा।

तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव दो प्रकार का माना गया है- (1) ईर्यापथिक और (2) साम्परायिक। जैन-दर्शन गीता के समान यह स्वीकार करता है कि जब तक जीवन है, तब तक शरीर से निष्क्रिय नहीं रहा जा सकता। मानसिक-वृत्ति के साथ ही साथ सहज शारीरिक एवं वाचिक-क्रियाएँ भी चलती रहती हैं और क्रिया के फलस्वरूप कर्मास्रव भी होता रहता है, लेकिन जो व्यक्ति कलुषित मानसिक-वृत्तियों (कषायों) के ऊपर उठ जाता है, उसकी और सामान्य व्यक्तियों की क्रियाओं के द्वारा होने वाले आस्रव में अन्तर तो अवश्य ही मानना होगा। कषायवृत्ति (दूषित मनोवृत्ति) से ऊपर उठे व्यक्ति की क्रियाओं के द्वारा जो आस्रव होता है, उसे जैन-परिभाषा में ईर्यापथिक-आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार चलते हुए रास्ते की धूल का सूखा कण पहले क्षण में सूखे वस्त्र पर लगता है, लेकिन गति के साथ ही दूसरे क्षण में विलग हो जाता है, उसी प्रकार, कषायवृत्ति से रहित क्रियाओं सें पहले क्षण में आस्रव होता है और दूसरे क्षण में वह निर्जरित हो जाता है। ऐसी क्रिया आत्मा में कोई विभाग उत्पन्न नहीं करती, किन्तु जो क्रियाएँ कषायसहित होती हैं, उनसे साम्परायिक- आस्रव होता है। साम्परायिक-आस्रव आत्मा के स्वभाव का आवरण कर उसमें विभाव उत्पन्न करता है।

तत्त्वार्थ में साम्परायिक-आस्रव का आधार 38 प्रकार की क्रियाएँ हैं-

1-5, हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन, संग्रह (परिग्रह)-ये पाँच अव्रत

6-9, क्रोध, मान, माया, लोभ-ये चार कषाय

10-14, पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन

15-38, चौबीस साम्परायिक-क्रियाएँ-

1. **कायिकी-क्रिया-** शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाएँ कायिकी-क्रिया कही जाती हैं। यह तीन प्रकार की हैं- (अ) मिथ्यादृष्टिप्रमत्त जीव की

क्रिया, (ब) सम्यक्दृष्टि- प्रमत्त जीव की क्रिया, (स) सम्यक्दृष्टि-अप्रमत्त साधक की क्रिया। इन्हें क्रमशः अविरत- कायिकी, दुष्प्रणिहित-कायिकी और उपरत-कायिकी-क्रिया कहा जाता है।

2. **अधिकरणिका-क्रिया**- घातक अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली हिंसादि की क्रिया। इसे प्रयोग-क्रिया भी कहते हैं।
3. प्राद्वेषिकी-क्रिया- द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि से युक्त होकर की जाने वाली क्रिया।
4. **पारितापनिकी**- ताडना, तर्जना आदि के द्वारा दुःख देना। यह दो प्रकार की है- 1. स्वयं को कष्ट देना और 2. दूसरे को कष्ट देना। जो विचारक जैन-दर्शन को कायाक्लेश का समर्थक मानते हैं, उन्हें यहाँ एक बार पुनः विचार करना चाहिए। यदि उसका मन्तव्य कायाक्लेश का होता, तो जैन-दर्शन स्व-पारितापनिकी-क्रिया को पाप के आगमन का कारण नहीं मानता।
5. **प्राणातिपातकी-क्रिया**- हिंसा करना। इसके भी दो भेद हैं- 1. स्वप्राणाति-पातकी-किं या, अर्थात् राग-द्वेष एवं कष ‍ां के वशीभूत होकर आत्म के स्वस्वभाव का घात करना तथा 2. परप्राणातिपातकी-क्रिया, अर्थात् कषायवश दूसरे प्राणियों की हिंसा करना।
6. **आरम्भ-क्रिया**- जड एवं चेतन वस्तुओं का विनाश करना।
7. **पारिग्राहिकी-क्रिया**- जड पदार्थों एवं चेतन प्राणियों का संग्रह करना।
8. **माया-क्रिया**- कपट करना।
9. **राग-क्रिया**- आसक्ति करना। यह क्रिया मानसिक-प्रकृति की है, इसे प्रेम प्रत्ययिकी-क्रिया भी कहते हैं।
10. **द्वेष-क्रिया**- द्वेष-वृत्ति से कार्य करना।
11. अप्रत्यायान-क्रिया- असंयम या अविरति की दशा में होने वाला कर्म अप्रत्यायान-क्रिया है।
12. **मिथ्यादर्शन-क्रिया**- मिथ्यादृष्टित्व से युक्त होना एवं उसके अनुसार क्रिया करना।
13. **दृष्टिजा-क्रिया**- देखने की किं या एवं तज्ज्ञनित राग-द्वेषादिभावरूप-क्रिया।

14. **स्पर्शन-क्रिया**- स्पर्श सम्बन्धी किं या एवं तज्जनित राग-द्वेषादि भाव। इसे पृष्टिजा-क्रिया भी कहते हैं।
15. **प्रातीत्यकी-क्रिया**- जड पदार्थ एवं चेतन वस्तुओं के बाह्य-संयोग या आश्रय से उत्पन्न रागादि भाव एवं तज्जनित क्रिया।
16. **सामन्त क्रिया**- स्वयं के जड पदार्थ की भौतिक-सम्पदा तथा चेतन प्राणिज- सम्पदा; जैसे पत्नियाँ, दास, दासी अथवा पशु, पक्षी इत्यादि को देखकर लोगों के द्वारा की हुई प्रशंसा से हर्षित होना। दूसरे शब्दों में, लोगों के द्वारा स्वप्रशंसा की अपेक्षा करना। सामन्तवाद का मूल आधार यही है।
17. **स्वहस्तिकी-क्रिया**- स्वयं के द्वारा दूसरे जीवों को त्रास या कष्ट देने की किं या। इसके दो भेद हैं- 1. जीव-स्वहस्तिकी, जैसे-चाँटा मारना, 2. अजीव-स्वहस्तिकी, जैसे-डण्डे से मारना।
18. **नैसृष्टिकी-क्रिया**- किसी को फेंककर मारना। इसके दो भेद हैं- 1. जीव-निसर्ग-क्रिया; जैसे-किसी प्राणी को पकडकर फेंक देने की क्रिया, 2. अजीव-निसर्ग- क्रिया; जैसे-बाण आदि मारना।
19. **आज्ञापनिका-क्रिया**- दूसरे को आज्ञा देकर कराई जाने वाली क्रिया या पापकर्म।
20. **वैदारिणी-क्रिया**- विदारण करने या फाडने से उत्पन्न होने वाली क्रिया। कुछ विचारकों के अनुसार, दो व्यक्तियों या समुदायों में विभेद करा देना या स्वयं के स्वार्थ के लिए दो पक्षों (क्रेता-विक्रेता) को गलत सलाह देकर फूट डालना आदि।
21. अनाभोग-क्रिया- अविवेकपूर्वक जीवन-व्यवहार का सम्पादन करना।
22. **अनाकांक्षा-क्रिया**- स्वहित एवं परहित का ध्यान नहीं रखकर क्रिया करना।
23. **प्रायोगिकी-क्रिया**- मन से अशुभ विचार, वाणी से अशुभ सम्भाषण एवं शरीर से अशुभ कर्म करके मन, वाणी और शरीर-शक्ति का अनुचित रूप में उपयोग करना।
24. **सामुदायिक-क्रिया**- समूह रूप में इकट्ठे होकर अशुभ या अनुचित क्रियाओं का करना; जैसे-सामूहिक वेश्या-नृत्य करवाना। लोगों को

ठगने के लिए सामूहिक रूप से कोई कम्पनी खोलना, अथवा किसी को मारने के लिए सामूहिक रूप में कोई षड्यंत्र करना आदि।

मात्र शारीरिक-व्यापाररूप ईर्यापथिकक्रिया, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, को मिलाकर जैन-विचारणा में क्रिया के पच्चीस भेद तथा आस्रव के 39 भेद होते हैं। कुछ आचार्यों ने मन, वचन और काय-योग को मिलाकर आस्रव के 42 भेद भी माने हैं।

आस्रवरूप क्रियाओं का एक संक्षिप्त वर्गीकरण सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध है। उसमें निम्न तेरह प्रकार की किं याओं को आस्रवरूप माना गया है। संक्षेप में, वे क्रियाएँ निम्न प्रकार से हैं।

1. **अर्थ–क्रिया–** अपने किसी प्रयोजन (अर्थ) के लिए क्रिया करना; जैसे- अपने लाभ के लिए दूसरे का अहित करना।
2. **अनर्थ–क्रिया–** बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला कर्म; जैसे- व्यर्थ में किसी को सताना।
3. **हिंसा–किं या–** अमुक व्यक्ति ने मुझे अथवा मेरे प्रियजनों को कष्ट दिया है, अथवा देगा, यह सोचकर उसकी हिंसा करना।
4. **अकस्मात्–क्रिया–** शीघ्रतावश अथवा अनजाने में होने वाला पाप-कर्म; जैसे घास काटते-काटते जल्दी में अनाज के पौधे को काट देना।
5. **दृष्टिविपर्यास–क्रिया–** मतिभ्रम से होने वाला पाप-कर्म; जैसे- चोरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड देना, मारना आदि, जैसे- दशरथ के द्वारा मृग के भ्रम में किया गया श्रवणकुमार का वध।
6. **मृषा–क्रिया–** झूठ बोलना।
7. **अदत्तादान–क्रिया–** चौर्य-कर्म करना।
8. **अध्यात्म–क्रिया–** बाह्य निमित्त के अभाव में होने वाले मनोविकार, अर्थात् बिना समुचित कारण के मन में होने वाला क्रोध आदि दुर्भाव।
9. **मान–क्रिया–** अपनी प्रशंसा या घमण्ड करना।
10. **मित्र–क्रिया–**प्रियजनों,पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी आदि को कठोर दण्ड देना।
11. **माया–क्रिया–** कपट करना, ढोंग करना।
12. **लोभ–क्रिया–** लोभ करना।

13. **ईर्यापथिकी-क्रिया-** अप्रमत्त, विवेकी एवं संयमी व्यक्ति की गमनागमन एवं आहार-विहार की क्रिया।

'आस्रव' श्रमणपरम्परा का सामान्य शब्द था। बौद्धपरम्परा में आस्रव शब्द की व्याया यह है कि जो मदिरा (आसव) के समान ज्ञान का विपर्यय करे, वह आस्रव है। दूसरे, जिससे संसाररूपी दु:ख का प्रसव होता है, वह आस्रव है।

जैनदर्शन में आस्रव को संसार (भव) एवं बन्धन का कारण माना गया है। बौद्धदर्शन में आस्रव को भव का हेतु कहा गया है। दोनों दर्शन अर्हतों को क्षीणास्रव कहते हैं। बौद्धविचारणा में आस्रव तीन माने गए हैं- (1) काम, (2) भव और (3) अविद्या, लेकिन अभिधर्म में दृष्टि को भी आस्रव कहा गया है। अविद्या और मिथ्यात्व समानार्थी हैं ही। काम को कषाय के अर्थ में लिया जा सकता है और भव को पुनर्जन्म के अर्थ में। धम्मपद में प्रमाद को आस्रव का कारण कहा गया है। बुद्ध कहते हैं- जो कर्त्तव्य को छोडता है और अकर्त्तव्य को करता है, ऐसे मलयुक्त प्रमादियों के आस्रव बढते हैं। इस प्रकार, जैन-विचारणा के समान बौद्ध-विचारणा में भी प्रमाद आस्रव का कारण है।

बौद्ध और जैन-विचारणाओं में इस अर्थ में भी आस्रव के विचार के सम्बन्ध में मतैक्य है कि आस्रव अविद्या (मिथ्यात्व) के कारण होता है, लेकिन यह अविद्या या मिथ्यात्व भी अकारण नहीं, वरन् आस्रवप्रसूत है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती है, वैसे ही अविद्या (मिथ्यात्व) से आस्रव और आस्रव से अविद्या (मिथ्यात्व) की परम्परा परस्पर सापेक्ष रूप में चलती रहती है। बुद्ध ने जहाँ अविद्या को आस्रव का कारण माना, वहाँ यह भी बताया कि आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है। एक के अनुसार, आस्रव चित्त-मल हैं, दूसरे के अनुसार, वे आत्म-मल हैं, लेकिन इस आत्मवाद सम्बन्धी दार्शनिक-भेद के होते हुए भी दोनों का साधना-मार्ग आस्रव-क्षय के निमित्त ही है। दोनों की दृष्टि से आस्रवक्षय ही निर्वाण-प्राप्ति का प्रथम सोपान है। बुद्ध कहते हैं- ''भिक्षुओं! संस्कार, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, अविद्या आदि सभी अनित्य, संस्कृत और किसी कारण से उत्पन्न होने वाले हैं। भिक्षुओं ! इसे भी जान लेने और देख लेने से आस्रवों का क्षय होता है।''

4. बन्ध तत्व

जैसे जैन-परम्परा में राग, द्वेष और मोह बन्धन के मूलभूत कारण माने गए हैं, वैसे ही बौद्ध-परम्परा में लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन (कर्मों की उत्पत्ति) का कारण माना गया है। जो मूर्ख लोभ, द्वेष और मोह से प्रेरित होकर छोटा या बडा, जो भी कर्म करता है, उसे उसी को भोगना पडता है, न कि दूसरे का किया हुआ, इसलिए बुद्धिमान् भिक्षु को चाहिए कि लोभ, द्वेष और मोह का त्याग कर एवं विद्या का लाभ कर सारी दुर्गतियों से मुक्त हो।

इस प्रकार, जैन और बौद्ध-दोनों परम्पराओं में राग, द्वेष और मोह-यही तीन बन्धन (संसार-परिभ्रमण) के कारण सिद्ध होते हैं।

वैसे, मूलभूत आस्रव योग (क्रिया) है, लेकिन यह समग' क्रिया-व्यापार भी स्वत:प्रसूत नहीं है। उसके भी प्रेरक सूत्र हैं, जिन्हें आस्रव-द्वार या बन्ध-हेतु कहा गया है। समवायांग, ऋषिभाषित एवं तत्त्वार्थसूत्र में इनकी संख्या 5 मानी गई है-(1) मिथ्यात्व, (2) अविरति, (3) प्रमाद, (4) कषाय और (5) योग (क्रिया)। समयसार में इनमें से 4 का उल्लेख मिलता है, उसमें प्रमाद का उल्लेख नहीं है। उपर्युक्त पाँच प्रमुख आस्रव-द्वार या बन्धहेतुओं को पुन: अनेक भेद-प्रभेदों में वर्गीकृत किया गया है। यहाँ केवल नाम-निर्देश करना पर्याप्त है। पाँच आस्रव-द्वारों या बन्ध-हेतुओं के अवान्तर-भेद इस प्रकार हैं-

1. मिथ्यात्व- मिथ्यात्व अयथार्थ दृष्टिकोण है, जो पाँच प्रकार का है-(1) एकान्त, (2) विपरीत, (3) विनय, (4) संशय और (5) अज्ञान।

2. अविरति- यह अमर्यादित एंव असंयमित जीवन-प्रणाली है। इसके भी पाँच भेद हैं- (1) हिंसा, (2) असत्य, (3) स्तेयवृत्ति, (4) मैथुन (काम-वासना) और (5) परिग'ह (आसक्ति)।

3. प्रमाद- सामान्यतया, समय का अनुपयोग या दुरुपयोग प्रमाद है। लक्ष्योन्मुख प्रयास के स्थान पर लक्ष्य-विमुख प्रयास समय का दुरुपयोग है, जबकि प्रयास का अभाव अनुपयोग है। वस्तुत:, प्रमाद आत्म-चेतना का अभाव है। प्रमाद पाँच प्रकार का माना गया है-

(क) विकथा- जीवन के लक्ष्य (साध्य) और उसके साधना-मार्ग पर

विचार नहीं करते हुए अनावश्यक चर्चाएँ करना। विकथाएँ चार प्रकार की हैं- (1) राज्य-सम्बन्धी (2) भोजन-सम्बन्धी, (3) स्त्रियों के रूप-सौन्दर्य-सम्बन्धी और (4) देश-सम्बन्धी। विकथा समय का दुरुपयोग है।

(ख) कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी उपस्थिति में आत्मचेतना कुण्ठित होती है, अत: ये भी प्रमाद हैं।

(ग) राग- आसक्ति भी आत्म-चेतना को कुण्ठित करती है, इसलिए प्रमाद कही जाती है।

(घ) विषय- सेवन- पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन।

(ङ) निद्रा- अधिक निद्रा लेना। निद्रा समय का अनुपयोग है।

4. कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चार प्रमुख मनोदशाएँ, जो अपनी तीव्रता और मन्दता के आधार पर सोलह प्रकार की होती हैं, कषाय कही जाती हैं। इन कषायों के जनक हास्यादि नौ प्रकार के मनोभाव उपकषाय हैं। कषाय और उपकषाय मिलकर पच्चीस भेद होते हैं।

***5. योग- जैन**-शब्दावली में योग का अर्थ क्रिया है, जो तीन प्रकार की* हैं- (1) मानसिक-क्रिया (मनोयोग), (2) वाचिक-क्रिया (वचनयोग), (3) शारीरिक-क्रिया (काययोग)।

यदि हम बन्धन के प्रमुख कारणों को और संक्षेप में जानना चाहें, तो जैन-परम्परा में बन्धन के मूलभूत तीन कारण राग (आसक्ति), द्वेष और मोह माने गए हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष-इन दोनों को कर्म-बीज कहा गया है और उन दोनों का कारण मोह बताया गया है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं, फिर भी उनमें राग ही प्रमुख है। राग के कारण ही द्वेष होता है। जैन-कथानकों के अनुसार, इन्द्रभूति गौतम का महावीर के प्रति प्रशस्त-राग भी उनके कैवल्य की उपलब्धि में बाधक रहा था। इस प्रकार, राग एवं मोह (अज्ञान) ही बन्धन के प्रमुख कारण हैं। आचार्य कुन्दकुन्द राग को प्रमुख कारण बताते हुए कहते हैं, आसक्त आत्मा ही कर्म-बन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान् का उपदेश है, इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो, लेकिन यदि राग (आसक्ति) का कारण जानना चाहें, तो जैन-परम्परा के अनुसार मोह ही इसका कारण सिद्ध होता है, यद्यपि मोह और राग-द्वेष सापेक्ष रूप में एक-दूसरे के कारण बनते हैं। इस प्रकार, द्वेष का

कारण राग और राग का कारण मोह है। मोह तथा राग (आसक्ति) परस्पर एक-दूसरे के कारण हैं, अतः राग, द्वेष और मोह-ये तीन ही जैन-परम्परा में बन्धन के मूल कारण हैं। इसमें से द्वेष को, जो राग (आसक्ति) जनित है, छोड देने पर शेष राग (आसक्ति) और मोह (अज्ञान)-ये दो कारण बचते हैं, जो अन्योन्याश्रित हैं।

सांख्ययोग-दर्शन में बन्धन का कारण

योगसूत्र में बन्धन या क्लेश के पाँच कारण माने गए हैं- 1. अविद्या, 2. अस्मिता (अहंकार), 3. राग (आसक्ति), 4. द्वेष और 5. अभिनिवेश (मृत्यु का भय)। इनमें भी अविद्या ही प्रमुख कारण है, क्योंकि शेष चारों अविद्या पर आधारित हैं। जैनदर्शन के राग, द्वेष और मोह (अविद्या) इसमें भी स्वीकृत हैं।

न्याय-दर्शन में बन्धन का कारण

न्याय-दर्शन में जैन-दर्शन के समान बन्धन के मूलभूत तीन कारण माने गए हैं- 1.राग, 2. द्वेष और 3. मोह। राग (आसक्ति) के भीतर काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ, माया तथा दम्भ का समावेश होता है तथा द्वेष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह (हिंसा) तथा अमर्ष का। मोह (अज्ञान) में मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद होते हैं। राग और द्वेष मोह अथवा अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, तुलनात्मक-दृष्टि से विचार किया जाए, तो सभी विचारणाओं में अविद्या (मोह) और राग-द्वेष ही बन्धन, दुःख या क्लेश के कारण हैं। द्वेष भी राग के कारण होता है, अतः मूलतः आसक्ति (राग) और अविद्या (मोह) ही बन्धन के कारण हैं, जिनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष-भाव से है।

5. संवर-तत्त्व

यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा के पूर्व कर्म-संस्कारों के कारण बन्धन की प्रकिं या अविराम गति से चल रही है। पूर्व कर्म-संस्कार विपाक के अवसर पर आत्मा को प्रभावित करते हैं और उसके परिणामस्वरूप मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापार होता है और उस किं या-व्यापार के कारण नवीन कर्मास्रव एवं कर्म-बन्ध होता है, अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बन्धन से

मुक्त कैसे हुआ जाए ? जैन-दर्शन बन्धन से बचने के लिए जो उपाय करता है, उसे संवर कहते हैं।

संवर का अर्थ

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, आस्रव-निरोध संवर है। संवर मोक्ष का मूल कारण तथा नैतिक-साधना का प्रथम सोपान है। संवर शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'वृ' धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ है-रोकना या निरोध करना। इस प्रकार, संवर शब्द का अर्थ है-आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को रोक देना। सामान्यत; शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक-कि याओं का यथाशक्य निरोध करना (रोकना) संवर है, क्योंकि कि याएँ ही आस्रव का कारण हैं। जैन-परम्परा में संवर को कर्म-परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध-परम्परा में कि या के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है, क्योंकि बौद्ध-परम्परा में कर्मवर्गणा (परमाणुओं) का भौतिक स्वरूप मान्य नहीं है, अत: वे संवर को जैन-परम्परा के अर्थ में नहीं लेते हैं। उसमें संवर का अर्थ मन, वाणी एवं शरीर के क्रिया-व्यापार या ऐन्द्रिक-प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है। वैसे, जैन-परम्परा में भी संवर को कायिक, वाचिक एवं मानसिक-कि याओं के निरोध के रूप में माना गया है, क्योंकि संवर के पाँच अंगों में अयोग (अकि या) भी एक है। यदि इस परम्परागत अर्थ को मान्य करते हुए भी थोडा ऊपर उठकर देखें, तो संवर का वास्तविक अर्थ संयम ही होता है। जैन-परम्परा में संवर के रूप में जिस जीवन-प्रणाली का विधान है, वह संयमी-जीवन की प्रतीक है। स्थानांगसूत्र में संवर के पाँच भेदों का विधान पाँचों इन्द्रियों के संयम के रूप में किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में तो संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव-निरोध का कारण कहा गया है। वस्तुत:, संवर का अर्थ है-अनैतिक या पापकारी-प्रवृत्तियों से अपने को बचाना और संवर शब्द इस अर्थ में संयम का पर्याय ही सिद्ध होता है। बौद्ध-परम्परा में संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में ही हुआ है। धम्मपद आदि में प्रयुक्त संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है। संवर शब्द का यह अर्थ करने में जहाँ एक ओर हम तुलनात्मक-विवेचन को सुलभ बना सकेंगे, वहीं दूसरी ओर, जैन-परम्परा के मूल आशय से भी दूर नहीं जाएंगे, लेकिन संवर का यह

निषेधक-अर्थ ही सब-कुछ नहीं है, वरन् उसका एक विधायक-पक्ष भी है। शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ में स्वीकार किए गए हैं, क्योंकि अशुभ की निवृत्ति के लिए शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्ति-शून्यता के अभ्यासी के लिए भी प्रथम, शुभ-वृत्तियों को अंगीकार करना होता है, क्योंकि चित्त के शुभवृत्ति से परिपूर्ण होने पर अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता। अशुभ को हटाने के लिए शुभ आवश्यक है। संवर का अर्थ शुभ-वृत्तियों का अभ्यास भी है। यद्यपि वहाँ शुभ का मात्र वही अर्थ नहीं है, जिसे हमें पुण्यास्रव या पुण्यबंध के रूप में मानते हैं।

2. जैन-परम्परा में संवर का वर्गीकरण

(अ) जैन-दर्शन में संवर के दो भेद हैं- 1. द्रव्य-संवर और 2. भाव-संवर। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि कर्मास्रव को रोकने से सक्षम आत्मा की चैत्तसिक-स्थिति भावसंवर है और द्रव्यास्रव को रोकने वाला उस चैत्तसिक-स्थिति का परिणाम द्रव्य-संवर है।

(ब) संवर के पाँच अंग या द्वार बताए गए हैं- 1. सम्यक्त्व- यथार्थ दृष्टिकोण, 2. विरति- मर्यादित या संयमित जीवन, 3. अप्रमत्तता- आत्म-चेतनता, 4. अकषायवृत्ति- क्रोधादि मनोवेगों का अभाव और 5. अयोग-अक्रिया।

(स) स्थानांगसूत्र में संवर के आठ भेद निरूपित हैं- 1. श्रोत्र-इन्द्रिय का संयम, 2. चक्षु-इन्द्रिय का संयम, 3. घ्राण-इन्द्रिय का संयम, 4. रसना-इन्द्रिय का संयम, 5. स्पर्श-इन्द्रिय का संयम, 6. मन का संयम, 7. वचन का संयम, 8. शरीर का संयम।

(द) प्रकारान्तर से जैनागमों में संवर के सत्तावन भेद भी प्रतिपादित हैं, जिनमें पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, दसविध यति-धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ), बाईस परीषह और पाँच सामायिक-चारित्र सम्मिलित हैं। ये सभी कर्मास्रव का निरोध कर आत्मा को बन्धन से बचाते हैं, अतः संवर कहे जाते हैं। इन सबका विशेष सम्बन्ध संन्यास या श्रमण-जीवन से है।

उपर्युक्त आधारों पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य ऐसी मर्यादित जीवन-प्रणाली है, जिसमें विवेकपूर्ण आचरण (क्रियाओं का सम्पादन)

मन, वाणी और शरीर की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन, सद्गुणों ग्रहण, कष्ट-सहिष्णुता और समत्व की साधना समाविष्ट है। जैन-दर्शन में संवर के साधक से यही अपेक्षा की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो, चेतना सदैव जाग'त रहे, ताकि इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ पैदा न कर सकें। जब इन्द्रियाँ और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते हैं, तो आत्मा में विकार या वासना उत्पन्न होने की सम्भावना खडी होती है, अतः साधना-मार्ग के पथिक को सदैव जाग्रत रहते हुए विषय-सेवनरूप छिद्रों से आने वाले कर्मास्रव या विकार से अपनी रक्षा करनी है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को समेटकर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्मयोग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पापवृत्तियों से सुरक्षित रखे। मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय-व्यापारों का संयमन ही नैतिक-जीवन की साधना का लक्ष्य है। सच्चे साधक की व्याख्या करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्ग में विवेकपूर्वक प्रयत्नशील रहता है), अध्यात्मरस में ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में लगाता है, वही सच्चा साधक है।

6. निर्जरा-तत्त्व

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बद्ध होना बंध है और आत्मा से कर्म-वर्गणाओं का अलग होना निर्जरा है। नवीन आने वाले कर्म-पुद्गलों को रोकना (संवर) है, परन्तु मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि किसी बडे तालाब के जल-स्रोतों (पानी के आगमन के द्वार) को बन्द कर दिया जाए और उसके अन्दर रहे हुए जल को उलीचा जाए और ताप से सुखाया जाए, तो वह विस्तीर्ण तालाब भी सूख जाएगा। इस रूपक में आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है, कर्म का आस्रव ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को निरुद्ध कर देना संवर है और पानी को उलीचना और सुखाना निर्जरा है। यह रूपक यह बताता है कि 'संवर से नए कर्मरूपी जल का आगमन (आस्रव) तो रुक जाता है, लेकिन पूर्व में बंधे हुए, सत्तारूप कर्मों का जल, जो आत्मारूपी तालाब में शेष है, उसे

सुखाना ही निर्जरा है।

द्रव्य और भाव-रूप निर्जरा- निर्जरा शब्द का अर्थ है-जर्जरित कर देना, झाड देना, अर्थात् आत्म-तत्त्व से कर्म-पुद्गलों का अलग हो जाना अथवा अलग कर देना निर्जरा है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। आत्मा का वह चैत्तसिक-अवस्थारूप हेतु, जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते हैं, भाव-निर्जरा कहा जाता है। भाव-निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है, जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म-परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य-निर्जरा है। भाव-निर्जरा कारणरूप है और द्रव्य-निर्जरा कार्यरूप है।

सकाम और अकाम-निर्जरा- निर्जरा के ये दो प्रकार भी माने गए हैं-

1. कर्म जितनी काल-मर्यादा के साथ बँधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल-निर्जरा है। इसे सविपाक, अकाम और अनौपक्र मिक-निर्जरा भी कहते हैं। इसे सविपाक-निर्जरा इसलिए कहते हैं कि इसमें कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है, अर्थात् इसमें फलोदय (विपाकोदय) होता है। इसे अकाम-निर्जरा इस आधार पर कहा गया है कि इसमें कर्म के अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्त्व नहीं होता। उपक्रम शब्द प्रयास के अर्थ में आता है, इसमें वैयक्तिक-प्रयास का अभाव होता है, अत: इसे अनौपक्र मिक भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से विपाक-अवधि के आने पर अपना फल देकर स्वाभाविक रूप में कर्म का अलग हो जाना है।

2. तपस्या के माध्यम से कर्मों को उनके फल देने के समय के पूर्व, अर्थात् उनकी कालस्थिति परिपक्व होने के पहिले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोगकर बलात् अलग कर दिया जाता है, तो यह निर्जरा सकाम-निर्जरा कही जाती है, क्योंकि निर्जरित होने में समय का तत्त्व अपनी स्थिति को पूरा नहीं करता है। इसे अविपाक-निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता है, मात्र प्रदेशोदय होता है। विपाकोदय और प'देशोदय के अन्तर को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड की जाती है, तो उसमें उसे असातावेदनीय (दु:खानुभूति) नामक

कर्म का प्रदेशोदय होता है, लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दु:खद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं, लेकिन दु:खद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार, प्रदेशोदय-कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, लेकिन उसकी फलानुभूति नहीं होती है, अत: वह अविपाक-निर्जरा कही जाती है। इसे सकाम-निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें कर्म-परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता है। यह औपक्रमिक-निर्जरा भी कही जाती है, क्योंकि इसमें उपक्रम या प्रयास होता है। प्रयासपूर्वक, तैयारीसहित, कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है। यह कर्मों को निर्जरित (क्षय) करने का कृत्रिम प्रकार है। अनौपक्रमिक या सविपाक-निर्जरा अनिच्छापूर्वक, अशान्त एवं व्याकुल चित्त-वृत्ति से पूर्वसंचित कर्म के प्रतिफलों का सहन करना है, जबकि अविपाक-निर्जरा इच्छापूर्वक समभावों से जीवन में आई हुई परिस्थितियों का मुकाबला करना है।

7. जैन-साधना में औपक्रमिक-निर्जरा का स्थान

जैन-साधना की दृष्टि से निर्जरा का पहला प्रकार, जिसे सविपाक या अनौपक्रमिक- निर्जरा कहते हैं, अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यह पहला प्रकार साधना के क्षेत्र में ही नहीं आता है, क्योंकि कर्मों के बन्ध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं, लेकिन जब तक नवीन कर्मों का सृजन समाप्त नहीं होता, ऐसी निर्जरा से सापेक्ष रूप में कोई लाभ नहीं होता, जैसे- कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान तो करता रहे, लेकिन नवीन ऋण भी लेता रहे, तो वह ऋण-मुक्त नहीं हो पाता।

जैन-दर्शन के अनुसार, आत्मा सविपाक-निर्जरा तो अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं- ''यह चेतन आत्मा कर्म के विपाककाल में सुखद और दु:खद फलों की अनुभूति करते हुए पुन: दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर लेता है, क्योंकि कर्म जब अपना विपाक-फल देते हैं, तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभ-निमित्त पर राग और अशुभ-निमित्त पर द्वेष करके नवीन बन्ध कर लेता है।''

अत:, साधना-मार्ग के पथिक के लिए पहले यह निर्देश दिया गया कि वह प्रथम ज्ञान-युक्त हो, कर्मास्रव का निरोध कर अपने-आपको संवृत करे। संवर के अभाव में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं, वह तो अनादिकाल से होती आ रही है, किन्तु भव-परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुई। दूसरे, यदि आत्मा संवर का आचरण करता हुआ भी इस यथाकाल होनेवाली निर्जरा की प्रतीक्षा में बैठा रहे, तो भी वह शायद ही मुक्त हो सकेगा, क्योंकि जैन-मान्यता के अनुसार, प्राणी का कर्म-बन्ध इतना अधिक होता है कि वह अनेक जन्मों में भी शायद इस कर्म-बन्ध से स्वाभाविक निर्जरा के माध्यम से मुक्त हो सके, लेकिन इतनी लम्बी समयावधि में संवर से स्खलित होकर नवीन कर्मों के बन्ध की सम्भावना भी तो रहती है, अत: साधना-मार्ग के पथिक के लिए जो मार्ग बताया गया है, वह है- औपक्रमिक या अविपाक-निर्जरा का। महत्व इसी तपजन्य औपक्रमिक-निर्जरा का है। ऋषिभाषितसूत्र में ऋषि कहता है कि 'संसारी-आत्मा प्रतिक्षण नए कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है, लेकिन तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष (महत्वपूर्ण) है।' मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं कि 'बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ रहा है, किन्तु जो साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है, वह अन्त में पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-आचारदर्शन औपक्रमिक या अविपाक-निर्जरा पर बल देता है। जैन-तत्त्वज्ञान औपक्रमिक-निर्जरा की धारणा के द्वारा यह स्वीकार करके चलता है कि कर्मों को उनके विपाक के पूर्व ही समाप्त किया जा सकता है। यह अनिवार्य नहीं है कि हमें अपने पूर्वकृत सभी कर्मों का फल भोगना ही पडे। जैन-दर्शन कहता है कि व्यक्ति तपस्या से अपने अन्दर वह सामर्थ्य उत्पन्न कर लेता है कि जिससे वह अपने कोटि-कोटि जन्मों के संचित कर्मों को क्षणमात्र में बिना फल भोगे ही समाप्त कर देता है। साधक के द्वारा अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण उसके कर्म-संघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से अलग हो जाता है।

औपक्रमिक-निर्जरा के भेद- जैनाचार-दर्शन में तपस्या को पूर्व संचितकर्मों के नष्ट करने का साधन माना गया है। जैन-विचारकों ने इस

औपक्रमिक अथवा अविपाक-निर्जरा के 12 भेद किए हैं, जो कि तप के ही 12 भेद हैं। वे-इस प्रकार हैं- 1. अनशन या उपवास, 2. ऊनोदरी-आहार की मात्रा में कमी, 3. भिक्षाचर्या अथवा वृत्ति संक्षेप- मर्यादित भोजन, 4. रसपरित्याग-स्वादजय, 5. काया क्लेश-आसनादि, 6. प्रतिसंलीनता-इन्द्रिय-निरोध, कषाय-निरोध, क्रिया-निरोध तथा एकांत निवास, 7. प्रायश्चित्त-स्वेच्छा से दण्ड ग्रहण कर पाप-शुद्धि या दुष्कर्मों के प्रति पश्चाताप, 8. विनय- विनम्रवृत्ति तथा वरिष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना, 9. वैयावृत्य-सेवा, 10. स्वाध्याय, 11. ध्यान और 12. व्युत्सर्ग-ममत्व-त्याग।

इस प्रकार, साधक संवर के द्वारा नवीन-कर्मों के आस्रव (आगमन) का निरोध तथा निर्जरा द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

7. मोक्ष–तत्त्व

जैन-तत्त्व-मीमांसा के अनुसार संवर के द्वारा कर्मों के आगमन का निरोध हो जाने पर और निर्जरा के द्वारा समस्त पुरातन कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा की जो निष्कर्म शुद्धावस्था होती है, वह मोक्ष है। कर्ममलों के अभाव में कर्मबन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है। अनात्मा में ममत्व-आसक्तिरूप आत्माभिमान का दूर हो जाना ही मुक्ति है।

बन्धन और मुक्ति की यह समग्र व्याख्या पर्यायदृष्टि का विषय है। आत्मा का विरूप-पर्याय ही बन्धन है और स्वरूप-पर्याय मोक्ष है। पर-पदार्थ या पुद्गल-परमाणुओं के निमित्त से आत्मा में जो पर्याएँ उत्पन्न होती हैं और जिसके कारण 'पर' में आत्मभाव (मेरापन) उत्पन्न होता है, वही विरूपपर्याय है, परपरिणति है, 'स्व' की 'पर' में अवस्थिति है, यही बन्धन है और इसका अभाव ही मुक्ति है। बन्धन और मुक्ति-दोनों आत्म-द्रव्य या चेतना की ही दो अवस्थाएँ हैं। विशुद्ध तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाए, तो बन्धन और मुक्ति की व्याख्या करना संभव नहीं है, क्योंकि आत्म-तत्त्व स्वस्वरूप का परित्याग कर परस्वरूप में कभी भी परिणत नहीं होता। विशुद्ध तत्त्वदृष्टि से तो आत्मा नित्यमुक्त है, लेकिन जब तत्त्व की पर्यायों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, तो बन्धन और मुक्ति की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं, क्योंकि बन्धन और

मुक्ति पर्याय-अवस्था में ही सम्भव होती है। मोक्ष को तत्त्व कहा गया है, लेकिन वस्तुत: मोक्ष तो बन्धन का अभाव ही है। जैनागमों में मोक्ष-तत्त्व पर तीन दृष्टियों से विचार किया है- (1) भावात्मक-दृष्टिकोण, (2) अभावात्मक-दृष्टिकोण और (3) अनिर्वचनीय-दृष्टिकोण।

(अ) भावात्मक-दृष्टिकोण- जैन-दार्शनिकों ने भावात्मक-दृष्टिकोण से विचार करते हुए मोक्षावस्था को निर्बाध अवस्था कहा है। मोक्ष-अवस्था में समस्त बन्धनों के अभाव के कारण आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। यह मोक्ष-बाधक तत्त्वों की अनुपस्थिति और आत्मशक्तियों का पूर्ण प्रकटन है। जैन-दर्शन के अनुसार, मोक्षावस्था में मनुष्य की अव्यक्त शक्तिया व्यक्त हो जाती हैं। उनमें निहित ज्ञान, भाव और संकल्प आध्यात्मिक-अनुशासन के द्वारा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष की भावात्मक-अवस्था का चित्रण करते हुए उसे 'शुद्ध, अनन्तचतुष्टययुक्त, शाश्वत, अविनाशी, निर्बाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य, अविचल, अनालम्ब कहा है।' आचार्य आगे चलकर मोक्ष में निम्न बातों की विद्यमानता की सूचना करते हैं-(1) पूर्णसौख्य, (2) पूर्णज्ञान, (3) पूर्णदर्शन, (4) पूर्णवीर्य (शक्ति), (5) अमूर्त्तत्व, (6) अस्तित्व और (7) सप्रदेशता। ये सात भावात्मक तथ्य सभी भारतीय-दर्शनों को स्वीकार नहीं हैं। वेदान्त सप्रदेशता को अस्वीकार करता है। सांख्य सौख्य एवं वीर्य को और न्याय-वैशेषिक ज्ञान और दर्शन को भी अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध-शून्यवाद अस्तित्व का भी निरसन करता है और चार्वाक - दर्शन मोक्ष की धारणा को ही स्वीकार नहीं करता। वस्तुत:, मोक्षावस्था को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विभिन्न दार्शनिक-मान्यताओं के प्रत्युत्तर के लिए ही इस भावात्मक-अवस्था का वर्णन किया गया है। भावात्मक-दृष्टि से जैन-विचारणा मोक्षावस्था में अनन्त-चतुष्टय, अर्थात् अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सौख्य और अनन्त-शक्ति की उपस्थिति पर बल देती है। बीजरूप में यह अनन्त-चतुष्टय सभी जीवों में स्वाभाविक गुण के रूप में विद्यमान है। मोक्ष-दशा में इनके अवरोधक कर्मों का क्षय हो जाने से यह पूर्ण रूप में प्रकट हो जाते हैं। अनन्त-चतुष्टय के अतिरिक्त अष्टकर्मों के क्षय के आधार पर सिद्धों में आठ गुण भी जैन-दर्शन में मान्य हैं। (1) ज्ञानावरण-कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा

अनन्त-ज्ञान या पूर्ण ज्ञान से युक्त होता है। (2) दर्शनावरण-कर्म के नष्ट हो जाने से अनन्त-दर्शन प्रकट होता है। (3) वेदनीय-कर्म के क्षय हो जाने से विशुद्ध अनश्वर आध्यात्मिक-सुखों से युक्त होता है। (4) मोहनीय-कर्म के नष्ट हो जाने से यथार्थ दृष्टि (क्षायिक-सम्यक्त्व) से युक्त होता है। मोह-कर्म के दर्शनमोह और चारित्रमोह-ऐसे दो भाग किए जाते हैं। दर्शनमोह के प्रहाण से यथार्थ दृष्टि और चारित्रमोह के क्षय से यथार्थ चारित्र (क्षायिक-चारित्र) प्रकट होता है, लेकिन मोक्ष-दशा में किं या-रूप चारित्र नहीं होता, मात्र दृष्टि-रूप चारित्र होता है, अतः उसे क्षायिक-सम्यक्त्व के अन्तर्गत ही माना जा सकता है। वैसे आठ कर्मों की 31 प्रकृतियों के क्षय होने के आधार पर सिद्धों के 31 गुण माने गए हैं, उनमें यथा'यातचारित्र को स्वतंत्र गुण माना गया है। (5) आयुकर्म के क्षय हो जाने से मुक्तात्मा अशरीरी होता है, अतः वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। (6) गोत्र-कर्म के नष्ट हो जाने से वह अगुरुलघु होता है, अर्थात् सभी सिद्ध समान होते हैं, उनमें छोटा-बडा या ऊंच-नीच का भेद नहीं होता। (7) अन्तरायकर्म का प्रहाण हो जाने से आत्मा बाधारहित होता है, अर्थात् अनन्त-शक्तिसम्पन्न होता है। अनन्त-शक्ति का यह विचार मूलतः निषेधात्मक ही है। यह मात्र बाधाओं का अभाव है, लेकिन इस प्रकार अष्ट-कर्मों के प्रहाण के आधार से मुक्तात्मा के आठ गुणों की व्या'या मात्र एक व्यावहारिक-संकल्पना ही है, उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन नहीं है, व्यावहारिक-दृष्टि से उसे समझने का प्रयास भर है। वस्तुतः, वह अनिर्वचनीय है। आचार्य नेमिचन्द्र स्पष्ट रूप से कहते हैं- ''सिद्धों के इन गुणों का विधान मात्र सिद्धान्त के स्वरूप के सम्बन्ध में जो एकान्तिक-मान्यताएँ हैं, उनके निषेध के लिए है।'' मुक्तात्मा में केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के रूप में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को स्वीकार करके मुक्तात्मा को जड मानने वाली वैभाषिक-बौद्धों और न्याय-वैशेषिकों की धारणा का प्रतिषेध किया गया है। मुक्तात्मा के अस्तित्व या अक्षयता को स्वीकार कर मोक्ष को अभावात्मक रूप में मानने वाले जडवादी तथा सौत्रान्तिक-बौद्धों की मान्यता का निरसन किया गया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मोक्षदशा का यह समग' चित्रण अपना निषेधात्मक-मूल्य ही रखता है। यह विधान भी निषेध के लिए है।

(ब) अभावात्मक-दृष्टिकोण- जैनागमों में मोक्षावस्था का चित्रण

निषेधात्मक-रूप से भी हुआ है। आचारांग में मुक्तात्मा का निषेधात्मक-चित्रण इस प्रकार हुआ है- मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है; अतः मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थानवाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत-वर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श-गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं- ''मोक्षदशा में न सुख है, न दुःख है, न पीडा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न वहाँ इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, न आर्त्त और रौद्र-विचार ही हैं। वहाँ तो धर्म (शुभ) और शुक्ल (शुद्ध) विचारों का भी अभाव है।'' मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है। वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रांत है। इस प्रकार, मुक्तावस्था का निषेधात्मक-विवेचन उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है।

(स) अनिर्वचनीय-दृष्टिकोण– मोक्षतत्त्व का निषेधात्मक-निर्वचन अनिवार्य रूप से हमें अनिर्वचनीयता की ओर ही ले जाता है। पारमार्थिक-दृष्टि से विचार करते हुए जैन-दार्शनिकों ने उसे अनिवर्चनीय ही माना है।

आचारांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है, 'समस्त स्वर वहाँ से लौट आते हैं, अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है, अर्थात् वह वाणी–विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता। वह अनुपम है, अरूपी है, सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

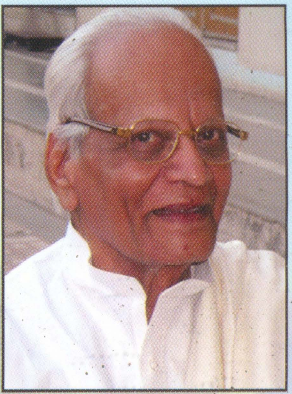

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954 एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963 पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा:	1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा :	1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी :	1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन :	49 पुस्तकें
सम्पादन :	160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक :	जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012

सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ : पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720